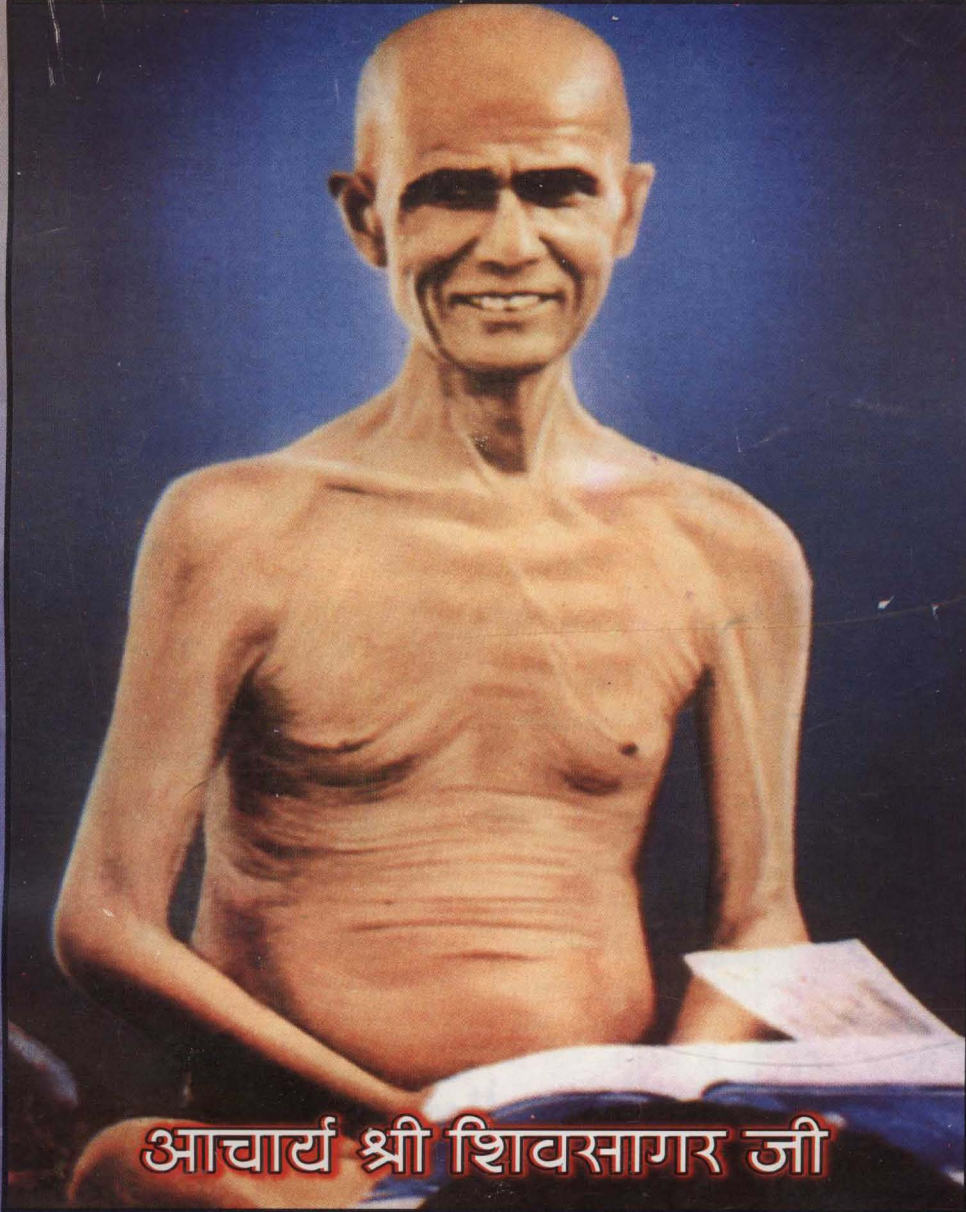


जिनभाषित

अक्टूबर 2001



आचार्य श्री शिवसागर जी

वास्तुदेव

विवाह एक धार्मिक अनुष्ठान

वीर निर्वाण सं. 2527

आश्विन, वि.सं. 2058

जिनभाषित

अक्टूबर 2001

वर्ष 1

मासिक

अङ्क 5

सम्पादक
प्रो. रतनचन्द्र जैन

कार्यालय

137, आराधना नगर,
भोपाल-462003 म.प्र.
फोन 0755-776666

सहयोगी सम्पादक

पं. मूलचन्द्र लुहाड़िया
पं. रतनलाल बैनाडा
डॉ. शीतलचन्द्र जैन
डॉ. श्रेयांस कुमार जैन
प्रो. वृषभ प्रसाद जैन

शिरोमणि संरक्षक

श्री रतनलाल कँवरीलाल पाटनी
(मे. आर.के. मार्बल्स लि.)
किशनगढ़ (राज.)
श्री गणेश राणा, जयपुर

द्रव्य-औदार्य

श्री अशोक पाटनी
(मे. आर.के. मार्बल्स लि.)
किशनगढ़ (राज.)

प्रकाशक

सर्वोदय जैन विद्यापीठ
1/205, प्रोफेसर्स कॉलोनी,
आगरा-282002 (उ.प्र.)
फोन : 0562-351428, 352278

सदस्यता शुल्क

शिरोमणि संरक्षक	5,00,000 रु.
परम संरक्षक	51,000 रु.
संरक्षक	5,000 रु.
आजीवन	500 रु.
वार्षिक	100 रु.
एक प्रति	10 रु.

सदस्यता शुल्क प्रकाशक को भेजें।
केवल ड्राफ्ट से

अन्तस्तत्त्व

पृष्ठ

- ◆ आपके पत्र, धन्यवाद 1
- ◆ सम्पादकीय : विवाह एक धार्मिक अनुष्ठान 2
- ◆ लेख :
 - रक्षाबंधन और पर्युषण : शुल्लक श्री गणेशप्रसाद जी वर्णी 4
 - दिगम्बरत्व का महत्त्व : डॉ. ज्योति प्रसाद जैन 6
 - क्षुधा-परीषह : पं. जगमोहन लाल जी शास्त्री 8
 - कर्मों का प्रेरक स्वरूप : प्रो. रतनचंद्र जैन 10
 - वास्तुदेव : पं. मिलापचन्द जी कटारिया 14
 - वनवासी और चैत्यवासी : पं. नाथूराम जी प्रेमी 16
 - जैन संस्कृति एवं साहित्य के विकास में
कर्नाटक का योगदान : प्रो. डॉ. राजाराम जैन 24
 - चिंतन की स्वच्छता स्वास्थ्य के
लिए अनिवार्य : पं. श्रीराम शर्मा आचार्य 26
- ◆ शंका समाधान : पं. रतनलाल बैनाडा 18
- ◆ काव्य समीक्षा : संवेदनाएँ और संस्मरण : अमरनाथ शुक्ल 20
- ◆ व्यंग्य : प्रजातंत्र से मेरी रिश्तेदारी : शिखरचन्द्र जैन 22
- ◆ देवस्तुति : अहो जगत् गुरु : पं. भूधरदास जी 29
- ◆ कविताएँ/गीत
 - साँसे सँवारती है देह का मकान : अशोक शर्मा 13
 - तू सूरज परभात का : डॉ. विमला जैन 'विमल' 15
 - वह लाजवाब है : नरेन्द्र प्रकाश जैन 30
 - नमोऽस्तु : प्रदर्शनी का गुलाब : प्रो. (डॉ.) सरोज कुमार आवरण पृष्ठ 3
- ◆ बालवार्ता : बोधकथाएँ 9
- ◆ समाचार 7, 23, 28, 31, 32

आपके पत्र, धन्यवाद : सुझाव शिरोधार्य

‘जिनभाषित’ का सितम्बर-अंक मिला। सम्पादकीय आलेख पढ़कर आपकी कलम को चूम लेने का मन हुआ। मन्दिरों में फिल्मी संगीत का प्रवेश और फिल्मी धुनों के मनोविज्ञान पर इतने सशक्त, तर्कपूर्ण और प्रभावक ढंग से प्रहार अभी तक किसी ने नहीं किया, हार्दिक बधाई।

युवा पीढ़ी को आकर्षित करने के नाम पर आज हम अपने धर्मायतनों मंदिर, धर्म-सभा, धार्मिक अनुष्ठान आदि में क्लब-संस्कृति को अपनाते जा रहे हैं, बिना यह सोचे-समझे कि इसके दूरगामी परिणाम अपनी वीतरागता-प्रधान संस्कृति के मूलोच्छेदन में ही सहायक सिद्ध होंगे। मनोरंजनीकरण का अन्धानुकरण अपने पैरों पर स्वयं कुल्हाड़ी मारने जैसा है। आज तो हमारे कुछ पूज्य साधुगण भी धर्मसभाओं में ऐसे-ऐसे अटपटे और चटपटे प्रश्न, जिनका धर्म से दूर-दूर तक कोई सम्बन्ध नहीं होता, पूछकर सस्ता मनोरंजन परोस रहे हैं। इन टोटकों और चुटकुलों से सम्मोहित होकर बड़ी भीड़ें जुटती हैं और उस भीड़ को हम प्रभावना मान लेते हैं। ऐसी धर्मसभाओं से लौटकर आनेवाले साधर्मि बन्धु इस प्रवृत्ति की आलोचना करते हुए तो देखे जाते हैं, किन्तु मजा लेने की आदत से लाचार होकर स्वयं उस भीड़ का हिस्सा भी बनते रहते हैं। संस्कृति की सुरक्षा यदि करनी है तो हमें ऐसे आदतबिगाड़ कार्यक्रमों का बहिष्कार करना सीखना होगा।

‘जिनभाषित’ अच्छा निकल रहा है। स्वच्छ मुद्रण, आकर्षक सज्जा एवं सुरुचिपूर्ण सामग्री- इन तीनों ही दृष्टियों से स्तरीय है। स्व. मुख्तार सा. का आलेख पुराना होते हुए भी ताजा लगता है, आज भी वह उतना ही प्रासंगिक है, जितना तब था। श्री शिखरचन्द्र जी का व्यंग्य भी विचारोत्तेजक और मखमली चोट करनेवाला है।

आवरण पर जिनका चित्र दिया जाये, उनके बारे में एक परिचयात्मक आलेख भी अवश्य रहना चाहिए। शेष शुभ। सुष्ठु प्रकाशन के लिये साधुवाद!

नरेन्द्रप्रकाश जैन,
सम्पादक - जैन गजट

104, नई बस्ती, फीरोजाबाद (उ.प्र.)

‘जिनभाषित’ (सितम्बर 2001) में आपका सम्पादकीय लेख ‘वैराग्य जगाने के अवसरों का मनोरंजनीकरण’ पढ़ने को मिला। अत्यंत प्रसन्नता हुई। आपने समयोचित साहसिक कदम उठाकर धर्म के पाश्चात्यीकरण का मर्मभेदी चित्रण किया है। आज लगा कि जैनधर्म के स्वरूप को विकृति से बचाने की चिन्ता करने वाले पुरुष भी इस धरा पर मौजूद हैं।

स्व. पं. जुगलकिशोर मुख्तार का आलेख ‘भवाभिनन्दी मुनि और मुनिनिन्दा’ को पढ़ा तो रोंगटे खड़े हो गये। इस लेख ने पत्रिका की निर्भीकता प्रमाणित की है, बहके श्रावकों को मार्गदर्शन और साहस

दिया है। मैं तो इसको सन्तशिरोमणि पूज्य आचार्य विद्यासागर जी का ही चमत्कार मानता हूँ। उनके चरणों में शत-शत नमन।

सतीशचन्द्र जैन नायक
छीपीटोला 30/46,

चुंगी स्कूल के सामने, आगरा-282001

जिनभाषित पत्र 5-6 माह से लगातार समय पर आ रहा है। सभी लेख आगमसम्मत पठनीय प्रकाशित होते हैं। अभी सितम्बर के अंक में आपका सम्पादकीय ‘वैराग्य जगाने के अवसरों का मनोरंजनीकरण’ लेख पढ़ा। हम जैसे विधानाचार्यों, पूजा करनेवाले पूजार्थियों एवं पूजा के सुनने वाले श्रद्धालुओं के लिये बहुत ही उपयोगी है। संगीतकारों द्वारा आज की फिल्मी तर्ज पर अश्लील शब्दों की ध्वनियों का प्रसारण वास्तव में सभी जनों के लिये अनुपयोगी होता है। प्राचीन राग-रागिनियाँ हितकर थीं। आज केवल मनोरंजन रह गया है। प्रतिष्ठाचार्यों, विधानाचार्यों को चिन्तन करना चाहिए, समाज के कर्णधारों को भी ध्यान देना चाहिए। ये विधानादि सुसंस्कारों के लिये और पुण्यवर्धन के लिये किये जाते हैं। पूजा में भक्तिसंगीत, नृत्यादि होना बुरा नहीं है, अच्छा है। लिखा है - ‘धवल मंगलगानरवाकुले’ उसका पालन तो होना ही चाहिए! मन भी लगा रहे और शुभ कर्म भी बंधते रहें। लेख के लिये आपको हार्दिक बधाई।

प्रतिष्ठाचार्य पं. लाडलीप्रसाद जैन
पापड़ीवाल भवन, सवाई-माधोपुर (राज.)

आपकी सुन्दर पत्रिका का सितम्बर अंक देखकर प्रसन्नता हुई। चित्र-चयन, छपाई-सफाई आकर्षक है। सामग्री भी उपयोगी है। इतिहास में भ्रांति पैदा करनेवाली कुछ गलतियाँ खटकती हैं, जिन पर आपका ध्यान दिलाना चाहता हूँ। ठीक समझें तो अगले अंक में मेरा यह पत्र प्रकाशित करने की दया करें।

डॉ. श्रीमती विद्यावती जी के लेख में गुल्लिकाज्जी की मूर्ति का उल्लेख है। प्रसिद्ध इतिहास के अनुसार यह मूर्ति राजा चामुण्डराय द्वारा स्थापित नहीं है। यह तो उनके दो सौ वर्ष बाद, 12वीं शताब्दी की कलाकृति है। चामुण्डराय के सामने तो मंदिर का कोट-दरवाजा कुछ भी नहीं बना था, सब बाद में बने हैं। इनके निर्माण का अधिकृत इतिहास उपलब्ध है, उसे देखना चाहिए।

पूज्य ब्र. अमरचंदजी ने कुण्डलपुर के उदासीन आश्रम को दिगम्बर जैन समाज का प्रथम उदासीन आश्रम लिखा है। उसी लेख में लिखा है कि इसके एक वर्ष पहले इंदौर का आश्रम उन्हीं ब्रह्मचारीजी की उपस्थिति में स्थापित हो चुका था। उनके लिखने में या तो तारीखों की भूल है, या फिर कुण्डलपुर के आश्रम को दिगम्बर जैन समाज का प्रथम आश्रम कहना गलत है। दोनों तो सही हो नहीं सकते, तब पत्रिका की विश्वसनीयता पर आँच आती है, अतः इसका स्पष्टीकरण कराना चाहिए।

धन्यवाद और प्रणाम,

पंजक शाह

विवाह एक धार्मिक अनुष्ठान

जिनागम में मोक्ष की साधना के लिये दो धर्म बतलाये गये हैं : मुनिधर्म और गृहस्थधर्म। इनमें मुनिधर्म उत्सर्ग मार्ग है और गृहस्थधर्म अपवादमार्ग। अर्थात् मोक्षाभिलाषी पुरुष को मुनिधर्म ही अंगीकार करना चाहिए, गृहस्थधर्म नहीं। गृहस्थधर्म तभी ग्राह्य है जब वह चारित्रमोह के तीव्र उदय से मुनिधर्म अंगीकार करने में असमर्थ हो। और गृहस्थधर्म अंगीकार करने का उद्देश्य भी अपने को मुनिधर्म की साधना के योग्य बनाना ही होता है। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा गया है कि मोक्षाभिलाषी पुरुष को सर्वप्रथम मुनिधर्मग्रहण करने का ही उपदेश दिया जाना चाहिए। जब बार-बार उपदेश देने पर भी उसे ग्रहण न कर सके, तभी पापों से देशविरतिरूप गृहस्थधर्म का उपदेश दिया जाए। जो गुरु पहले मुनिधर्म ग्रहण करने का उपदेश न देकर गृहस्थधर्म अंगीकार करने का उपदेश देता है, उसे आगम में दण्डनीय बतलाया गया है, क्योंकि ऐसा करने से शिष्य मुनिधर्म के पालन में समर्थ होते हुए भी हीनस्तर के गृहस्थधर्म में सन्तुष्ट होकर अपनी शक्ति के सदुपयोग से वंचित रह जाता है। इसका वर्णन निम्नलिखित श्लोकों में किया गया है-

बहुशः समस्तविरतिं प्रदर्शितां यो न जातु गृहणाति।

तस्यैकदेशविरतिः कथनीयानेन बीजेन॥17॥

यो यतिधर्ममकथयन्नुपदिशति गृहस्थधर्ममल्पमतिः।

तस्य भगवत्प्रवचने प्रदर्शितं निग्रहस्थानम्॥18॥

अक्रमकथनेन यतः प्रोत्सहमानोऽतिदूरमपि शिष्यः।

अपदेऽपि सम्प्रतुप्तः प्रतारितो भवति तेन दुर्मतिना॥19॥

सागारधर्मामृतकार पं. आशाधर जी कहते हैं कि जिनेन्द्रदेव के उपदेशानुसार विषयों को निरन्तर त्याज्य समझते हुए भी, जो पुरुष चारित्रमोह के उदय से उनका त्याग करने में समर्थ नहीं होता उसे गृहस्थधर्म धारण करने की अनुमति दी गई है-

त्याज्यानजस्रं विषयान्पश्यतोऽपि जिनाज्ञया।

मोहात्यक्तुमशक्तस्य गृहधर्मोऽनुमन्यते॥2/1॥

पण्डितजी ने यह भी बतलाया है कि मुनिधर्म धारण करने में असमर्थ होते हुए भी जो उसमें (मुनिधर्म में) अनुराग रखता है, वही गृहस्थधर्म की दीक्षा का पात्र होता है-

अथ नत्वाऽर्हतोऽक्षुण्णचरणान् श्रमणानपि।

तद्धर्मरागिणां धर्मः सागाराणं प्रणेध्यते॥1/1॥

तात्पर्य यह कि विषयों से विरक्ति हो जाने पर भी यदि मुनिधर्म के आचरण की सामर्थ्य नहीं है, तो गुरु से गृहस्थधर्म की दीक्षा अवश्य लेनी चाहिए। ऐसा न करने पर पूर्ण अविरति का दोष लगता रहता है, जिससे कर्मों का न देशसंवर होता है न देशनिर्जरा।

इस प्रकार गृहस्थधर्म का महल वैराग्य की नींव पर खड़ा होता

है और उसे स्वीकार करने का प्रयोजन है विषयों को धर्म के संस्कार से शोधित-परिष्कृत कर ओषधि के रूप में सेवन करते हुए विषयरोग की तीव्रता को शान्त करना और ज्ञान, वैराग्य तथा संयम को दृढ़ करते हुए विषयों के सर्वथा परित्याग की शक्ति अर्जित करना। विवाह वह धार्मिक संस्कार है, जिससे विषय शोधित और परिष्कृत होकर औषधि का रूप धारण कर लेते हैं। उदाहरणार्थ, इसके द्वारा परदारनिवृत्ति हो जाने से कामप्रवृत्ति मर्यादित हो जाती है और स्वस्त्री-स्वपुरुष भी केवल नर-मादा की आदिम भूमिका में नहीं रहते, अपितु सहधर्मि और सहधर्मिणी के पद पर प्रतिष्ठित हो जाते हैं। यह वह पद है जिसमें पति-पत्नी एक-दूसरे के लिये गौणरूप से विषयौषधि बनते हुए भी मुख्यरूप से पारस्परिक धर्मसाधना और धर्मवृद्धि में सहयोगी बनते हैं। इसीलिए विवाह एक धार्मिक संस्कार या धार्मिक अनुष्ठान है। इसी कारण उसका सम्पादन विनायक यंत्र के समक्ष णमोकारमंत्र, मंगलाष्टक एवं मंत्रों का उच्चारण करते हुए नवदेवों (पंचपरमेष्ठी, जिनधर्म, जिनागम, जिनबिम्ब और जिनालय) के पूजन-हवनपूर्वक किया जाता है। यह ध्यान रखा जाता है कि विवाहविधि में वैषयिकता की तनिक भी आँच न आने पावे। यद्यपि विवाह का गौण लक्ष्य विषयेच्छा की संतुष्टि होता है, तथापि विवाहविधि पूर्णतः धार्मिक और सात्त्विक होती है। वह वैषयिकता की हवा से अलूती रखी जाती है। उसमें शृंगाररसात्मक गीतादि के लिये स्थान नहीं होता। शहनाई जैसे वाद्ययन्त्र भी मंगलध्वनि ही विकीर्ण करते हैं। यह इस बात का सूचक है कि विवाहोत्सव में यदि कोई नृत्यगीत होता है तो वह भी सात्त्विक भावों को ही उभारने वाला होना चाहिए।

धार्मिक अनुष्ठान का बीभत्सीकरण

किन्तु इस धार्मिक अनुष्ठान को आजकल अत्यंत बीभत्स बना दिया गया है। हमने इसे परम्परया मोक्ष की साधना का माध्यम नहीं रहने दिया, अपितु दहेज नामक दानवी प्रथा के खूनी शिकंजे में कसकर हराम के धन से कुबेर बनने का साधन बना लिया है। वर के चुनाव में अब चरित्र पर ध्यान नहीं दिया जाता, अपितु उसकी धन कमाने की क्षमता देखी जाती है, भले ही वह न्याय पर आधारित हो या अन्याय पर। और अब तो वधू में भी धन कमाने की योग्यता तलाशी जाने लगी है, अन्य गुणों को गौण कर दिया जाता है।

चूँकि विवाहसंस्कार अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रतधारी श्रावकों का संस्कार है इसलिये उसमें परिग्रहपरिमाण एवं भोगोपभोगपरिमाण व्रतों की झलक दिखाई देनी चाहिए। किन्तु हमने इसे वैभवप्रदर्शन का निर्लज्ज साधन बना लिया है। इस प्रयोजन से बेहद कीमती, चमकदमकवाले, भारीभरकम निमंत्रण पत्र छपवाये जाते हैं।

उनमें इतना खर्च किया जाता है कि एक निमंत्रण पत्र की कीमत सौ-सौ, दो-दो सौ रुपयों तक पहुँच जाती है।

विवाह का पंडाल इतना विशाल बनवाया जाता है और उसे रेशमी परदों, ट्यूबलाइटों आदि से ऐसा सजाया जाता है कि लगता है जैसे किसी राजदरबार या इन्द्रसभा का फिल्मी सेट हो। भोज के लिये तरह-तरह के खाद्य, स्वाद्य, लेह्य और पेय व्यंजनों के अनगिनत स्टाल लगाये जाते हैं और शोभायात्रा के समय आतिशबाजी में हजारों रुपये फूँक दिये जाते हैं। इस तरह विवाह के धार्मिक अनुष्ठान को परिग्रहपरिमाण और भोगोपभोगपरिमाण व्रतों की धज्जियाँ उड़ाने वाला कृत्य बना दिया गया है।

विवाह संस्कार रात्रि में किया जाता है, जिससे रात्रि में ही पूजन-हवन आदि धार्मिक क्रियाएँ सम्पन्न होती हैं। यह जिनागम के विरुद्ध है। अहिंसाप्रधान जैनधर्म दिन में ही हवन-पूजन आदि धार्मिक क्रियाएँ करने की अनुमति देता है। रात्रि में विवाहविधि सम्पन्न करने से भोजन-पान भी रात्रि में किया जाता है, जो श्रावकधर्म की जड़ पर भीषण कुठाराघात है। इतना ही नहीं, विवाहों में मद्यपान और द्यूतक्रीड़ा जैसे व्यसनो का भी चलन हो गया है, जिसने विवाह के धार्मिक अनुष्ठान को पापानुष्ठान में बदल दिया है।

पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव से भोज के बुफे सिस्टम (खड़े-खड़े भोजन करना) ने भी श्रावकधर्म को आघात पहुँचाया है। एक स्थान में बैठकर मौनपूर्वक शुद्ध भोजन करना श्रावकचर्या का महत्त्वपूर्ण अंग है, किन्तु बुफे में खड़े-खड़े भोजन करना पड़ता है और बार-बार भोजन उठाने के लिये टेबिल के पास जाना पड़ता है। इस पद्धति में सब लोग अपने-अपने जूठे हाथों से भोजन उठाते हैं, अतः वह अशुद्ध हो जाता है। इसमें अजैन भी शामिल होते हैं। अनेक लोगों के हाथ का स्पर्श लगने से भोजन में रोगाणुओं का भी संचार हो जाता है।

विवाह संस्कार में एक नई विकृति जो पैदा हुई है, वह है वर की शोभायात्रा में युवक-युवतियों का सड़कों पर फिल्मी स्टाइल में नाचना। कुछ समय पूर्व तक केवल युवक ही नाचा करते थे, कोई भी जैन युवती सड़कों पर नाचती हुई दिखाई नहीं देती थी। किन्तु अब जैनेतरों की देखा-सीखी जैनों में भी यह विकृति प्रवेश कर गई है। अब हमारी बहू-बेटियाँ भी, जिन्हें विवाह जैसे धार्मिक अनुष्ठान में सड़कों पर संयत-परिष्कृत, लज्जाशील आचरण-पद्धति का परिचय देना चाहिए, वे लाज-शरम छोड़कर बैड बाजों की फिल्मी धुनों पर नाचती हुई दिखाई देती हैं। यह दृश्य बड़ा अशोभनीय लगता है। यह विवाहसंस्कार के बीभत्सीकरण की दिशा में उठाया गया नया कदम है।

विवाह एक धार्मिक अनुष्ठान है। उसे संयत, परिष्कृत और शोभनीय प्रवृत्तियों के परिवेश में ही सम्पन्न किया जाना चाहिए।

विवाहोत्सव में युवतियों के नृत्यगीत से हानि नहीं है। नृत्यगीत तो हर्षोल्लास की अभिव्यक्ति का मानवस्वभावोद्भूत सांस्कृतिक माध्यम है। लोकसंस्कृति में तो विवाहोत्सवों में नृत्यगीतादि के प्रयोग की प्राचीन परम्परा है। किन्तु लोकसंस्कृति में भी संस्कृति है। भारतीय लोकसंस्कृति में इस बात का ख्याल रखा गया है कि किस श्रेणी के लोगों के द्वारा, किस अवसर पर, किस प्रकार के नृत्यगीत का प्रयोग किया जाना चाहिए। भारतीय लोकसंस्कृति में भी अश्लील नृत्यगीतादि के लिये स्थान है, पर वह केवल होली जैसे अवसरों पर या विशेष प्रकार की रसिकमंडली के बीच। विवाहोत्सवों में जो बन्ना-बन्नी के गीत गाये जाते हैं, वे अश्लील नहीं होते, अपितु वर-वधू के दाम्पत्यभाव को सुरुचिपूर्ण भाषा में अभिव्यक्त करने वाले होते हैं तथा स्त्रियाँ जो नृत्य करती हैं, वह घर के भीतर स्त्रियों के बीच में ही किया जाता है। आजकल पुरुषों के बीच में भी किया जाने लगा है, किन्तु वे परिवार के ही सगे-सम्बन्धी होते हैं तथा नृत्य की भावभंगिमाएँ अश्लील नहीं होतीं, सुरुचिपूर्ण होती हैं। किन्तु आजकल वर की शोभायात्रा में सड़कों पर युवक-युवतियों द्वारा किया जानेवाला नृत्य फिल्मों की भद्दी स्टाइल में होता है, जिसे देखकर सुरुचिसम्पन्न लोगों को शर्म आती है। उसमें संस्कृति का नामोनिशाँ नहीं रहता, अपितु अपसंस्कृति का बोलबाला रहता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विवाह के धार्मिक अनुष्ठान को धनलोभ, वैभवप्रदर्शन, व्यसनपरकता, रात्रिविवाह-रात्रिभोज, बुफे-भोजनपद्धति, और सड़कों पर बहूबेटियों के अशोभनीय नृत्य, इन विकृतियों ने अत्यंत बीभत्सरूप दे दिया है। इसका उपचार शीघ्रातिशीघ्र किया जाना चाहिए।

इस दिशा में परमपूज्य आचार्य श्री विद्यासागर जी के सुयोग्य शिष्य पूज्य मुनि श्री समतासागर जी एवं पूज्य मुनि श्री प्रमाणसागर जी अच्छा काम कर रहे हैं। ये दो प्रतिभाशाली, आगमचक्रव्यू, आत्मसाधना और धर्मप्रभावना में निरत युवा मुनि जहाँ भी जाते हैं, अपने हृदयस्पर्शी उद्बोधन द्वारा रात्रिविवाह और रात्रिभोज की गार्हित प्रथाओं पर कठोर प्रहार करते हैं और लोगों के मन में इन के प्रति घोर घृणा जगाकर इन्हें जड़ से उखाड़ फेंकते हैं। इनके उन्मूलन से इनके साथ जुड़ी अन्य बुराइयाँ अपने आप विलुप्त हो जाती हैं।

फिर भी, सड़कों पर बहूबेटियों के नाचने की अशोभनीय प्रथा चल रही है, क्योंकि इसके लिये उन्हें दिन के समय निकलनेवाली शोभायात्राओं में भी अवसर मिल जाता है। अतः अब इस पर भी प्रहार करने की जरूरत है। इसके अतिरिक्त देहेज की माँग वैभवप्रदर्शन और व्यसनसेवन की दुष्प्रवृत्तियाँ भी जीवित हैं। इन सब पर बलपूर्वक कुठाराघात आवश्यक है, तभी विवाह एक संस्कार, एक धार्मिक अनुष्ठान का नाम सार्थक कर पायेगा।

रतनचन्द्र जैन

इस विषय पर यदि पाठक अपने विचार भेजना चाहें तो स्वागत है।

- सम्पादक

रक्षाबन्धन और पर्युषण

स्व. क्षुल्लक श्री गणेशप्रसादजी वर्णी

श्रावण शुक्ला पूर्णिमा सं. 2007 को रक्षाबन्धन पर्व आया। यह पर्व सम्यग्दर्शन के वात्सल्य अङ्ग का महत्त्व दिखलाने वाला है। सम्यग्दृष्टि का स्नेह धर्म से होता है और धर्म के बिना धर्मी रह नहीं सकता, इसलिये धर्मी के साथ उसका स्नेह होता है। जिस प्रकार गौ का बछड़े के साथ जो स्नेह होता है, उसमें गौ को बछड़े की ओर से होने वाले प्रत्युपकार की गन्ध भी नहीं होती, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा से स्नेह करता है, तो उसके बदले वह उससे किसी प्रत्युपकार की आकांक्षा नहीं करता। कोई माता अपने शिशु से स्नेह इसलिये करती है कि यह वृद्धावस्था में हमारी रक्षा करेगा, पर गौ को ऐसी कोई इच्छा नहीं रहती, क्योंकि बड़ा होने पर बछड़ा कहीं जाता है, और गौ कहीं। फिर भी गौ बछड़े की रक्षा के लिये अपने प्राणों की भी बाजी लगा देती है। सम्यग्दृष्टि यदि किसी का उपकार करे और उसके बदले उससे कुछ इच्छा रखे, तो यह एक प्रकार का विनिमय हो गया, इसमें धर्म का अंश कहाँ रहा? धर्म का अंश तो निरीह होकर सेवा करने का भाव है। विष्णुकुमार मुनि ने सात सौ मुनियों की रक्षा करने के लिये अपने आपको एकदम समर्पित कर दिया, अपनी वर्षों की तपश्चर्या पर ध्यान नहीं दिया और धर्मानुराग से प्रेरित हो, छल से वामन का रूप धर बलि का अभिमान चूर किया। यद्यपि पीछे चलकर इन्होंने भी अपने गुरु के पास जाकर छेदोपस्थापना की, अर्थात् फिर से नवीन दीक्षा धारण की, क्योंकि उन्होंने जो कार्य किया था, वह मुनि पद के योग्य कार्य नहीं था, तथापि सहधर्मी मुनियों की उन्होंने उपेक्षा नहीं की। किसी सहधर्मी भाई को भोजन, वस्त्रादि की कमी हो, तो उसकी पूर्ति हो जाए, ऐसा प्रयत्न करना चाहिए। यह लौकिक स्नेह है, सम्यग्दृष्टि का पारमार्थिक स्नेह इससे भिन्न रहता है।

सम्यग्दृष्टि मनुष्य हमेशा इस बात का विचार रखता है कि यह हमारा सहधर्मी भाई सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य रूप जो आत्मा का धर्म है, उससे कभी च्युत न हो जाय तथा अनन्त संसार के भ्रमण का पात्र न बन जाए।

दूसरे के विषय में ही यह चिन्ता करता हो, सो बात नहीं, अपने आपके प्रति भी यही भाव रखता है। सम्यग्दर्शन के निःशङ्कित आदि आठ अङ्ग जिस प्रकार पर के विषय में होते हैं, उसी प्रकार स्व के विषय में भी होते हैं। रक्षाबन्धन रक्षा का पर्व है, पर की रक्षा वही कर सकता है, जो स्वयं रक्षित हो। जो स्वयं आत्मा की रक्षा करने में असमर्थ है, वह क्या पर का कल्याण कर सकता है? रक्षा से तात्पर्य आत्मा को पाप से पृथक् करो, पाप ही संसार की जड़ है। जिसने इसे दूर कर दिया, उसके समान भाग्यशाली अन्य कौन है?

आज जैन समाज से वात्सल्य अङ्ग का महत्त्व कम होता जा रहा है, अपने स्वार्थ के समक्ष आज का मनुष्य किसी के हानि-लाभ को नहीं देखता। हम और हमारे बच्चे आनन्द से रहें, परन्तु पड़ोसी की झोपड़ी में क्या हो रहा है, इसका पता लोगों को नहीं। महल में रहने वालों को पास में बनी झोपड़ियों की भी रक्षा करनी होती है, अन्यथा उनमें लगी आग उनके महल को भी भस्मसात् कर देती है। एक समय तो वह था कि जब मनुष्य बड़े की शरण में रहना चाहते थे, उनका ख्याल रहता था कि बड़ों के आश्रय में रहने से हमारी रक्षा रहेगी, पर आज का मनुष्य बड़ों के आश्रय से दूर रहने की चेष्टा करता है, क्योंकि उसका ख्याल बन गया है कि जिस प्रकार एक बड़ा वृक्ष अपनी छाँह में दूसरे छोटे पौधे को नहीं पनपने देता है, उसी प्रकार बड़ा आदमी समीपवर्ती - शरणागत अन्य मनुष्यों को नहीं पनपने देता। अस्तु, रक्षाबन्धन पर्व हमें सदा यही शिक्षा देता है कि 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' अर्थात् सब सुखी रहें।

मैं कहने के लिये तो यह सब कह गया, पर सामायिक के बाद अन्तरंग में जब विचार किया, तब यही ध्वनि निकली कि पर की समालोचना त्यागो, आत्मीय समालोचना करो। समालोचना में काल लगाना भी उचित नहीं, प्रस्तुत वह काल उत्तम विचार में लगाओ। आत्मा का स्वभाव ज्ञाता-द्रष्टा है, वही रहने दो, इसमें इष्ट-अनिष्ट कल्पना से

बचो। अनादिकाल से यही उपद्रव करते रहे, पर सन्तुष्ट नहीं हुए। आत्मपरिणति को स्वच्छ रखो, सो तो करता नहीं, संसार का ठेका लेता है। जो मनुष्य आत्मकल्याण से वंचित है, वे ही संसार के कल्याण में प्रयत्न करते हैं। संसार में यदि शांति चाहते हो, तो सबसे पहले पर में निजत्व की कल्पना त्यागो, अनन्तर अनादि काल से जो यह परिग्रह-पिशाच के आवेश में अनात्मीय पदार्थों से आत्महित का संस्कार है, उसे त्यागो। हम आहारादि संज्ञाओं से आत्मा को तृप्त करने का प्रयत्न करते हैं, यह सर्व मिथ्या धारण है, इसे त्यागो। संतोष का कारण त्याग है, उस पर स्वत्व कल्पना करो। प्रतिदिन जल्पवाद से जगत् को सुलझाने की जो चेष्टा है, उसे त्यागो, और अपने आपको सुलझाने का प्रयत्न करो। संसार में धर्म और अधर्म तथा खान और पान यही तो परिग्रह है। लोक में जिसे पुण्यशब्द से व्यवहृत करते हैं, वह धर्म तुम्हारा स्वभाव नहीं, संसार में ही रखने वाला है।

धीरे-धीरे पर्युषण पर्व आ गया। चतुर्थी के दिन श्री पंडित झम्मनलालजी आ गये। पं. कमलकुमारजी यहाँ थे ही, इसलिये प्रवचन का आनन्द रहा। वृद्धावस्था के कारण हमसे अधिक बोला नहीं जाता और न बोलने की इच्छा ही होती है। उसका कारण यह है कि जो बात प्रवचन में कहता हूँ, तदनु रूप मेरी चेष्टा नहीं। मैं दूसरों से तो कहता हूँ कि रागादिक दुःख के कारण है, अतः इनसे बचो, पर स्वयं उनमें फँस जाता हूँ। दूसरों से कहता हूँ कि सर्व प्रकार से विकल्प त्यागो, पर स्वयं न जानें कहाँ-कहाँ के विकल्पों में फँसा हुआ हूँ।

पर्युषण पर्व साल में तीन बार आता है- भाद्रपद, माघ और चैत्र में, परन्तु भाद्रपद के पर्युषण का प्रचार अधिक है। पर्व के समय प्रत्येक मनुष्य अपने अभिप्राय को निर्मल बनाने का प्रयास करता है, और यथार्थ में पूछा जाय तो अभिप्राय की निर्मलता ही धर्म है। आत्मा की यह निर्मलता क्रोधादिक कषायों के कारण तिरोहित हो रही है, इसलिये इन कषायों को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए।

क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय हैं, इनमें क्रोध से क्षमा, मान से मार्दव, माया से आर्जव और लोभ से शौचगुण तिरोहित हैं। ये चार कषाय निकल जावें और उनके बदले क्षमा आदि गुण आत्मा में प्रकट हो जावे तो आत्मा का उद्धार हो जावे, क्योंकि मुख्य में यह चार गुण ही धर्म हैं। आगे जो सत्य आदि छः धर्म कहे हैं, वे इन्हीं के विस्तार हैं- इन्हीं के अंग हैं। क्रोध को वही जीत सकता है, जिसने मान पर विजय प्राप्त कर ली हो। हम कहीं गये, किसी ने सत्कार नहीं किया, हमारी बात पूछी नहीं, हमें क्रोध आ गया। हमने किसी से कोई बात कही, उसने नहीं मानी, हमें क्रोध आ गया कि इसने हमारी बात नहीं मानी, इस प्रकार देखते हैं कि हमारे जीवन में जो क्रोध उत्पन्न होता है, उसमें मान प्रायः कारण होता है। इसी प्रकार माया की उत्पत्ति लोभ से होती है। हमें आपसे किसी वस्तु की आकांक्षा है, तो उसे पाने के लिये हम इच्छा न रहते हुए भी आपके प्रति ऐसी चेष्टा दिखलावेंगे कि जिससे आपके हृदय में यह प्रत्यय हो जावे कि यह हमारे अनुकूल है। जब अनुकूलता का प्रत्यय आपके हृदय में दृढ़ हो जावेगा, तभी तो अपनी वस्तु देने का भाव होगा। इस तरह यह किसी का कहना ठीक है कि 'मानात्क्रोधः प्रभवति माया लोभात्प्रवर्तते' अर्थात् मान से क्रोध उत्पन्न होता है। और लोभ से माया प्रवृत्त होती है। जब आत्मा से क्रोध, लोभ भीरुत्व तथा हास्य की परिणति दूर हो जाती है, तो सत्य वचन में प्रवृत्ति अपने आप होने लगती है। असत्य बोलने के कारण दो हैं - 1. अज्ञान और 2. कषाय। इनमें अज्ञानमूलक असत्य आत्मा का घातक नहीं, क्योंकि उसमें परिणाम मलिन नहीं रहते, परन्तु कषायमूलक असत्य आत्मा का घातक है, क्योंकि उसमें परिणाम मलिन रहते हैं। जब आत्मा से क्रोधादि कषाय निकल गई तब असत्य बोलने में प्रवृत्ति नहीं हो सकती। इंद्रियों के विषयों से निवृत्ति हो गई है, यही संयम है। यह निवृत्ति तभी हो सकती है जब लोभ कषाय की निवृत्ति हो जाय तथा यह प्रत्यय हो जाये कि आत्मा में सुख की उत्पत्ति विषयाभिमुखी प्रवृत्ति से नहीं, किन्तु तन्निवृत्ति से है। मानसिक विषयों की निवृत्ति हो जाना - इच्छाओं पर नियंत्रण हो जाना, सो तप है। जब तक मन स्वाधीन नहीं होगा, तब तक उसमें इच्छाएँ उठा करेंगी और

इच्छाओं के रहते परिणामों में स्थिरता स्वप्न में भी नहीं आ सकती। जब इच्छाएँ घट जावेंगी, तब उसके फलस्वरूप त्याग स्वतः हो जावेगा। भोजन करते-करते जब भोजन विषयक इच्छा दूर हो जाती है, तब भोजन का त्याग करने में देर नहीं लगती। क्षुधित अवस्था में यह भाव होता था कि पात्र में भोजन जल्दी आवे और क्षुधाविषयक इच्छा दूर हो जाने पर भाव होता है कि कोई बलात् पात्र में भोजन न परोस दे। त्याग के बाद आकिञ्चन्य दशा का होना स्वाभाविक है। जब पुरातन परिग्रह का त्याग कर दिया और इच्छा के अभाव में नूतन परिग्रह अंगीकृत नहीं किया तब आकिञ्चन्य दशा स्वयमेव होने की है ही और जब अपने पास आत्मातिरिक्त किसी पदार्थ का अस्तित्व नहीं रहा- उसमें ममता परिणम नहीं रहा, तब आत्मा का उपयोग आत्मा में ही लीन होगा, यही ब्रह्मचर्य है, इस प्रकार यह दश धर्मों का क्रम है। दश धर्मों का यह क्रम जीवन में उतर जावे तो आत्मा का कल्याण हो जावे। विचार कीजिए, क्षमा, मार्दव आदि धर्म किसके हैं, और कहाँ हैं? विचार करने पर ये आत्मा के हैं और आत्मा में ही हैं, परन्तु यह जीव अज्ञानवश इतस्ततः भ्रमण करता-फिरता है। लाखों का धनी व्यक्ति जिस प्रकार अपनी निधि को भूल दर-दर का भिखारी हो भ्रमण करता है, ठीक उसी प्रकार हम भी अपनी निधि को भूल उसकी खोज में इतस्ततः भ्रमण कर रहे हैं। **परम धर्म को पाय कर सेवत विषय कषाय। ज्यों गन्ना को पाय कर नीमहि ऊँट चबाया।**

जिस प्रकार ऊँट गन्ना को छोड़कर नीम को चबाता है, उसी प्रकार संसार के प्राणी परमधर्म को छोड़कर विषय-कषाय का सेवन करते हैं। उनसे सुख मानते हैं। मोहोदय से इस जीव की दृष्टि स्वोन्मुख न हो, पर की ओर हो रही है।

पर्व के समय प्रवचन होते हैं। वक्ता अपने क्षायोपशमिक ज्ञान के आधार पर पदार्थ का निरूपण करता है। यहाँ वक्ता से यदि कुछ विरुद्ध कथन भी होता है, तो अन्य समझदार व्यक्ति को समताभाव से उसका सुधार करना चाहिए, क्योंकि शास्त्रप्रवचन धर्मकथा है, विजिगीषुकथा नहीं। धर्मकथा का सार यह है, कि दश आदमी एकत्र बैठकर पदार्थ का निर्णय कर रहे हैं, इसमें किसी के जय-पराजय का भाव नहीं है। जहाँ यह भाव है, वहाँ

वार्तालाप में विषमता आ जाती है। यह विषमता पाप का कारण है। वार्तालाप के समय वक्ता या श्रोता किसी को यह भाव नहीं होना चाहिए कि हमारी प्रतिष्ठा में बढ़ा न लग जावे, समताभाव से सत्य बात को स्वीकार करना चाहिए और समता भाव से ही असत्य बात का निराकरण करना चाहिए। यहाँ भाद्रपद शुक्ल 10 के दिन पण्डितगणों में परस्पर कुछ वार्तालाप की विषमता हो गई। विषमता का कारण 'परमार्थ से हमारी प्रतिष्ठा में कुछ बढ़ा न लगे' यह भाव था। तत्त्व से देखो तो आत्मा निर्विकल्प है उसमें यशोलिप्सा ही व्यर्थ है। यश तो नामकर्म की प्रकृति है। यश से कुछ मिलता-जुलता नहीं है। जिस वक्ता ने शास्त्रप्रवचन में यश की लिप्सा रखी, उसका 2 घंटे तक गले की नसें खींचना ही हाथ रहा, स्वाध्याय के लाभ से वह दूर रहा, इसी प्रकार जिस श्रोता ने वक्ता की परीक्षा का भाव रखा या अपनी बात जमाने का अभिप्राय रखा, उसने अपना समय व्यर्थ खोया। वक्ता का भाव तो यह होना चाहिये कि हम अज्ञानी जीवों को वीतराग जिनेन्द्र की वाणी सुनाकर सुमार्ग पर लगावें और श्रोता का भाव यह होना चाहिए कि वक्ता के श्रीमुख से जिनवाणी के दो शब्द सुन अपने विषय-कषाय को दूर करें।

पर्व के बाद आश्विन प्रतिपदा क्षमावाणी का दिन था, परन्तु जैसा उसका स्वरूप है, वैसा हुआ नहीं। केवल प्रभावना होकर समाप्ति हो गई। परमार्थ से, अन्तरङ्ग से, शान्तिभाव की प्राप्ति हो जाना यही क्षमा है, सो इस ओर तो लोगों की दृष्टि है नहीं, केवल ऊपरी भाव से क्षमा माँगते हैं, एक-दूसरे के गले लगते हैं। इससे क्या होने वाला है? और खासकर जिससे बुराई होती है, उसके पास भी नहीं जाते, उससे बोलते भी नहीं, इसके विपरीत जिससे बुराई नहीं, उसके पास जाते हैं, उसके गले लगते हैं, उसे क्षमावाणी पत्र लिखते हैं आदि। यह सब क्या क्षमावाणी उत्सव का प्राणशून्य ढाँचा नहीं है?

चाहत जो मन शान्ति-सुख, तजहु कल्पना-जाल।
व्यर्थ भरम के भूत में, क्यों होते बेहाल।॥1॥
यह जगत की माया विकट, जो न तजोगे मित्र।
तो चहुँगति के बीच में, पाओगे दुख चित्र।॥2॥

मेरी जीवन गाथा (द्वितीय भाग)
से साधार

दिगम्बरत्व का महत्त्व

डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन

मोक्ष प्राप्ति के लिए साधक की चरम अवस्था में दिगम्बरत्व अनिवार्य है, किन्तु वह अन्तरंग एवं बाह्य, दोनों ही प्रकार का युगपत् होना चाहिए, तभी उसकी सार्थकता है। यह मार्ग दुस्साध्य है। तथापि इसमें संदेह नहीं है कि दिगम्बर मुनि अपनी अत्यंत कठोरचर्या, व्रत, नियम, संयम तथा शीत-उष्ण-दंश-मशक-नागन्य-लज्जा आदि बाईस परीषहों को जीतने एवं नाना प्रकार के उपसर्गों को सहन करने में सक्षम होता है। उसका जीवन एक खुली पुस्तक होता है। ज्ञान की उसमें कमी या अल्पाधिक्य हो सकता है। संस्कारों या परिस्थितिजन्य दोष भी लक्ष्य किये जा सकते हैं, अथवा दिगम्बर मुनि के आदर्श की कसौटी पर भी वह भले ही पूरा-पक्का न उतर पाये, तथापि अन्य परम्पराओं के साधुओं की अपेक्षा अपने नियम-संयम, तप एवं कष्टसहिष्णुता में वह श्रेष्ठतर ही ठहरता है। फिर जो मुनि आदर्श को अपने जीवन में चरितार्थ करते हैं, उन मुनिराजों की बात ही क्या है, वे सच्चे साधु या सच्चे गुरु ही आचार्य-उपाध्याय-साधु के रूप में पंच-परमेष्ठी में परिगणित हैं, वे मोक्षमार्ग के पूजनीय एवं अनुकरणीय मार्गदर्शक होते हैं। वे तरणतारण होते हैं। उन्हीं के लिये कहा गया है -

धन्यास्ते मानवा मन्ये ये लोके विषयाकुले।

विचरन्ति गतग्रन्थाश्चतुरङ्गे निराकुलाः॥

इस दिगम्बर मार्ग के प्रवर्तक प्रथम तीर्थंकर आदिदेव ऋषभ थे। जिनदीक्षा लेने के उपरान्त उन्होंने दिगम्बर मुनि के रूप में तपश्चरण करके केवलज्ञान एवं तीर्थंकर पद प्राप्त किया था। उनके भरत, बाहुबली आदि अनेक सुपुत्रों और अनगिनत अनुयायियों ने इसी दिगम्बर मार्ग का अवलम्बन लेकर आत्मकल्याण किया है। भगवान् ऋषभ के समय से लेकर अद्य पर्यन्त यह दिगम्बर मुनि परम्परा अविच्छिन्न चली आयी है। बीच-बीच में मार्ग में काल-दोष से विकार भी उत्पन्न हुए, चारित्रिक शैथिल्य भी आया, किन्तु संशोधन-परिमार्जन भी होते रहे हैं।

जैन परम्परा का स्वयं वह श्वेताम्बर सम्प्रदाय भी, जो जैन साधुओं के लिये दिगम्बरत्व को अपरिहार्य नहीं मानता और साधुओं को सीमित-संख्यक, बिनसिले श्वेत वस्त्र धारण करने की अनुमति देता है, इस तथ्य को मान्य करता है कि प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव तथा अन्तिम तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर अपने जीवन में अचेलक अथवा दिगम्बर ही रहे थे, अन्य अनेक पुरातन जैन मुनि दिगम्बर रहे, तथा यह कि जिनमार्ग में जिनकल्पी साधुओं का श्रेष्ठ एवं श्लाघनीय रूप अचेलक है। कला के क्षेत्र में भी 8वीं 9वीं शती ई. से पूर्व की प्रायः सभी उपलब्ध तीर्थंकर या जिनप्रतिमाएँ दिगम्बर ही हैं और वे उभयसम्प्रदायों के अनुयायियों द्वारा समान रूप से पूजनीय रहीं, आज भी हैं। कालान्तर में साम्प्रदायिक भेद के लिए

श्वेताम्बर साधु जिनमूर्तियों में भी लंगोट का चिह्न बनवाने लगे एवं मुकुट, हार, कुंडल, चोली-आंगी, कृत्रिम नेत्र आदि का प्रचलन तो इधर लगभग दो-अढ़ाई सौ वर्षों के भीतर ही हुआ है।

जैन-परम्परा में ही नहीं, अन्य धार्मिक परम्पराओं में भी श्रेष्ठतम साधकों के लिये दिगम्बरत्व की प्रतिष्ठा की गयी प्राप्त होती है। प्रागैतिहासिक एवं प्राग्वैदिक सिन्धु-घाटी सभ्यता के मोहन-जोदड़ो से प्राप्त अवशेषों में कायोत्सर्ग दिगम्बर योगिमूर्ति का धड़ मिला है। स्वयं ऋग्वेद में वातरशना (दिगम्बर) मुनियों का उल्लेख हुआ है। कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीय आरण्यक में उक्त वातरशना मुनियों को श्रमणधर्मा एवं ऊर्ध्वरितस (ब्रह्मचर्य से युक्त) बताया है। श्रीमद्भागवत में भी वातरशना मुनियों के उल्लेख हैं तथा वहाँ अन्य अनेक ब्राह्मणीय पुराणों में नाभेय ऋषभ को, विष्णु का एक प्रारंभिक अवतार सूचित करते हुए उन्हें ही दिगम्बर चित्रित किया गया है। ऐसे उल्लेखों पर से स्व. डॉ. मंगलदेव शास्त्री का अभिमत है कि 'वातरशना-श्रमण' एक प्राग्वैदिक मुनि परम्परा थी और वैदिक धारा पर उसका प्रभाव स्पष्ट है।

कई उपनिषदों, पुराणों, स्मृतियों, रामायण, महाभारत आदि अनेक ब्राह्मणीय धर्मग्रन्थों, वृहत्संहिता, भर्तृहरिशतक तथा क्लासिकल संस्कृत साहित्य में भी दिगम्बर मुनियों के उल्लेख एवं दिगम्बरत्व की प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। ब्राह्मण परम्परा में 6 प्रकार के संन्यासियों का विधान है जिनमें तुरायातीत श्रेणी के संन्यासी दिगम्बर ही रहते थे। जड़-भरत, शुकदेव मुनि आदि कई दृष्टान्त भी उपलब्ध हैं। परमहंस श्रेणी के साधु भी प्रायः दिगम्बर रहते हैं। मध्यकालीन साधु-अखाड़ों में भी एक अखाड़ा दिगम्बरी नाम से प्रसिद्ध है। पिछली शती के वाराणसी निवासी महात्मा तैलंग स्वामी नामक सिद्ध योगी, जो रामकृष्ण परमहंस तथा स्वामी दयानन्द सरस्वती जैसे प्रबुद्ध संतों एवं सुधारकों द्वारा भी पूजित हुए, सर्वथा दिगम्बर रहते थे। बौद्ध भिक्षुओं के लिए नग्नता का विधान नहीं है, किन्तु स्वयं गौतमबुद्ध ने अपने साधनाकाल में कुछ समय तक दिगम्बर मुनि के रूप में तपस्या की थी। यहूदी, ईसाई और इस्लाम धर्मों में भी सहज नग्नत्व को निर्दोषता का सूचक एवं श्लाघनीय माना गया है। जलालुद्दीन रूमी, अलमनसूर, सरमद जैसे सूफी संतों ने दिगम्बरत्व की सराहना की है। सरमद तो सदा नंगे रहते थे। उनकी दृष्टि में तो -

'तने उरियानी (दिगम्बरत्व) से बेहतर नहीं कोई लिबास,
यह वह लिबास है जिसका न उल्टा है न सीधा।'

सरमद का कौल था कि -

'पोशानीद लबास हरकारा ऐबदीद,
बे ऐबारा लबास अयानीदाद'

पोशाक तो मनुष्य के ऐबों को छिपाने के लिए है, जो बेऐब, निष्पाप हैं, उनका परिधान तो नग्नत्व ही होता है। नन्द-मौर्य कालीन यूनानियों ने भारत के दिगम्बर मुनियों (जिम्नोसोफिस्ट) के वर्णन किए हैं, युवान-च्वाँग आदि चीनी यात्रियों ने भी भारत के विभिन्न स्थानों में विद्यमान दिगम्बर (लि-हि) साधुओं या निर्ग्रन्थों का उल्लेख किया है। सुलेमान आदि अरब सौदागरों और मध्यकालीन यूरोपीय पर्यटकों में से कई ने उनका संकेत किया है। डॉ. जिम्मर जैसे मनीषियों का मत है कि प्राचीन काल में जैन मुनि सर्वथा दिगम्बर ही रहते थे।

वास्तव में दिगम्बरत्व तो स्वाभाविकता और निर्दोषिता का सूचक है। महाकवि मिल्टन ने अपने काव्य 'पैरेडाइज लॉस्ट' में कहा है कि आदम और हौवा जब एक सरलतम एवं सर्वथा सहज निष्पाप थे, स्वर्ग के नन्दनकानन में सुखपूर्वक विचरते थे, किन्तु जैसे ही उनके मन विकारी हुए, उन्हें उस दिव्यलोक से निष्कासित कर दिया गया। विकारों को छिपाने के लिये ही उनमें लज्जा का उदय हुआ और परिधान (कपड़ों) की उन्हें आवश्यकता पड़ी। महात्मा गाँधी ने एक बार कहा था, 'स्वयं मुझे नगनावस्था प्रिय है, यदि निर्जन वन में रहता होऊँ तो मैं नग्न अवस्था में रहूँ।' काका कालेलकर ने क्या ठीक

ही कहा है, 'पुष्प नग्न रहते हैं। प्रकृति के साथ जिन्होंने एकता नहीं खोयी है ऐसे बालक भी नग्न घूमते हैं। उनको इसकी शरम नहीं आती है और उनकी निर्व्याजता के कारण हमें भी लज्जा जैसा कुछ प्रतीत नहीं होता। लज्जा की बात जाने दें, इसमें किसी प्रकार का अश्लील, वीभत्स, जुगुप्सित, अरोचक हमें लगा हो, ऐसा किसी भी मनुष्य का अनुभव नहीं। कारण यही है कि नग्नता प्राकृतिक स्थिति के साथ स्वभावशुदा है। मनुष्य ने विकृत ध्यान करके अपने विकारों को इतना अधिक बढ़ाया है और उन्हें उल्टे रास्तों की ओर प्रवृत्त किया है कि स्वभाव-सुन्दर नग्नता सहन नहीं होती। दोष नग्नता का नहीं, अपने कृत्रिम जीवन का है।'

वस्तुतः निर्विकार, दिगम्बर, सहज, वीतराग छवि का दर्शन करने से तो स्वयं दर्शक के मनोविकार शान्त हो जाते हैं - अब चाहे वह छवि किसी सच्चे साधु की हो अथवा जिन-प्रतिमा की हो। आचार्य सोमदेव कहते हैं कि समस्त प्राणियों के कल्याण में लीन ज्ञान-ध्यान तपःपूत मुनिजन यदि अमंगल हों तो लोक में फिर और क्या ऐसा है जो अमंगल नहीं होगा।

वात्सल्य रत्नाकर (तृतीय खण्ड) से साभार

फिरोजाबाद महिला-मिलन द्वारा महती धर्म प्रभावना

भगवान महावीर स्वामी के 2600वें जन्म कल्याणक महोत्सव वर्ष के उपलक्ष्य में भगवान महावीर के सन्देशों तथा जैन धर्म के सूत्रों, सिद्धान्तों के व्यापक प्रचार-प्रसार हेतु फिरोजाबाद महिला जैन मिलन ने जैन-जैनेतर सभी बालवृद्ध युवाओं के लिये विभिन्न प्रतियोगिताओं-लेख/निबंध प्रतियोगिता, चित्रकला-पोस्टर प्रतियोगिता, सूक्तियाँ लेखन (स्लोगन), भाषण/व्याख्यान प्रतियोगिता, प्रश्नोत्तरी पुस्तिका प्रतियोगिता का वृद्धि आयोजन किया गया है। यह कार्यक्रम मई में आयोजित धार्मिक शिक्षण शिविर के साथ ही आरम्भ हो गये थे। भगवान महावीर पर आधारित 150 प्रश्नों की पुस्तिका प्रदान की गई थी जिसे 20 सितम्बर तक भरकर देना था। पर्युषण पर्व के साथ ही निबन्ध तथा पोस्टर प्रतियोगिता की घोषणा कर दी गयी थी तथा इन्हें वरिष्ठ-कनिष्ठ वर्ग में 25 सितम्बर तक जमा करना था, जिसमें भगवान महावीर के उपदेशों की सार्थकता को भाषा तथा कला के द्वारा अभिव्यक्त करना था। भाषण प्रतियोगिता, पुरस्कार वितरण के साथ 30 सितम्बर को रखी गयी थी, जिसमें जैन-जैनेतर सभी प्रतियोगी आमंत्रित थे।

प्रश्नोत्तर प्रतियोगिता में 400 से अधिक प्रतिभागी थे, सर्वाधिक प्राप्तांक लेकर श्रीमती चन्द्रप्रभा जैन ने भगवान महावीर का स्वर्णिम चित्र पुरस्कार स्वरूप प्राप्त किया। 130 अंक प्राप्तांक लाने वाले 25 प्रतियोगी थे जिन्हें प्रथम पुरस्कार तथा प्रमाण-पत्र दिया गया।

130 से 120 तक द्वितीय तथा 100 तक प्राप्तांक वाले सभी प्रतियोगियों को पुरस्कृत किया गया। कलापोस्टर में 120 पोस्टर आये जिन्हें प्राप्त करने वालों में वरिष्ठ वर्ग की प्रथम नेहा जैन तथा कनिष्ठ में प्रथम स्वाती जैन रहीं। भाषण में प्रथम सौरभ जैन तथा द्वितीय विश्वदीप भारद्वाज थे। कनिष्ठ वर्ग में रितु जैन प्रथम थी। स्लोगन में 7 प्रतियोगी पुरस्कृत हुए। भाषण प्रतियोगिता तथा पुरस्कार वितरण 30.9.2001 को श्री महावीर बाहुबली जिनालय प्रांगण में अपार जन समूह के समक्ष हुआ।

मुख्य वक्ता प्राचार्य नरेन्द्र प्रकाश (सम्पादक - जैन गजट) ने कहा 'भगवान महावीर सत्य, अहिंसा के सच्चे प्रवर्तक थे, सत्य में हित-मित प्रियवाणी सर्वोपरि है। श्री अनूप जैन एड. ने महिला जैन मिलन को साधुवाद देते हुए आयोजन को सकारात्मक कहा। भा. जैन मिलन क्षेत्र सं. 17 के अध्यक्ष मंत्री, केन्द्रीय उपाध्यक्ष, संयोजक फिरोजाबाद जैन मेले के संरक्षक रामबाबू जैन 'राजा' अध्यक्ष, मंत्री तथा डॉ. पाराशर, डॉ. अशोक तिवारी, डॉ. चन्द्रवीर जैन आदि के सान्निध्य में यह आयोजन हुआ। वयोवृद्ध समाज सेविका बहिन चन्द्रकुमारी जैन, म. जैन मिलन की अध्यक्षा डॉ. विमला जैन, डॉ. रश्मि जैन, श्यामा रानीवाला, ज्योत्सना, सत्या, शशि, अरुणा, अंगूरी जैन आदि ने इस आयोजन को कार्यान्वित किया।

डॉ. विमला जैन

अध्यक्षा - महिला जैन मिलन, 1/344 सुहागनगर, फिरोजाबाद

क्षुधा-परीषह

स्व. पं. जगन्मोहनलाल जी शास्त्री

मोक्षमार्ग के यात्री साधुजनों को अनेक विपत्तियाँ सहज ही आती हैं। तथापि मोक्षपथ का पथिक इन सभी बाधाओं पर विजय प्राप्त कर अपने गन्तव्य की ओर सहज प्रयाण करता है।

मोक्षमार्ग में आने वाली बाधाएँ अनेक प्रकार की हैं -

(1) कुछ बाधाएँ तो शरीर सम्बन्धी हैं जो स्वयं उत्पन्न होती हैं, जैसे- रोग, व्याधियाँ, अस्वस्थता, जरा आदि की बाधाएँ।

(2) कुछ आगन्तुक बाधाएँ हैं जो ऋतुपरिवर्तन, क्षेत्र परिवर्तन तथा सहयोगियों की प्रतिकूलता से आती हैं।

(3) कुछ बाधाएँ अन्य जन्तु प्राणियों द्वारा आती हैं, जो वनवासी साधुओं को सहज प्राप्त होती रहती हैं।

(4) कुछ बाधाएँ विपरीत बुद्धि वाले स्वार्थी लोगों द्वारा उत्पन्न की जाती हैं।

(5) कुछ बाधाएँ शत्रुभाव रखने वाले धर्मद्वेषी व्यक्तियों द्वारा आती हैं।

इन सम्पूर्ण बाधाओं को जिन दो भागों में आचार्या ने विभक्त किया है वे हैं- परीषह और उपसर्ग। उपसर्ग परकृत बाधा है, पर परीषह तो स्वयं आगत बाधा है। निर्विकार निरपराध मुनिजन जो स्वयं किसी से बैर नहीं करते, तथापि मिथ्यादृष्टि जन अपने विविध विकारी परिणामों के कारण उन पर भी अनेक प्रकार के प्रहार करते हैं। साधुजन समताभाव से उसे सहन कर अपने कर्म की निर्जरा करते हैं।

सब परीषहों में आदि परीषह क्षुधा-परीषह माना गया है। क्षुधा अनादि कालीन शरीर की सहयोगिनी बाधा है जो एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय पर्यन्त चारों गति के जीवों को प्राप्त है। उसका शमन करने का अपनी-अपनी परिस्थिति के अनुसार सभी प्रयत्न करते हैं, पर वे उसपर विजय प्राप्त नहीं कर पाते। सम्पूर्ण जीवन उस एक बाधा को शमन करने में ही बीत जाता है, पर उसका शमन नहीं होता। अनन्तानन्त जन्म इस जीव के अनादि से हुए हैं और जब तक संसार-दशा है तब तक यह बाधा नहीं जाएगी। वह शरीर धर्म बन गई है। उस पर विजय प्राप्त करने का एक मात्र उपाय क्षुधा-परीषह का जीतना है, वह अन्य उपायों से शमन नहीं की जा सकेगी। जैन साधुओं का आहार इतने नियमों और नियंत्रणों से साध्य होता है कि जिससे वे क्षुधा के वशागत नहीं होते।

अनशन, ऊनोदर आदि तप उसी क्षुधा-परीषह को जीतने के लिये ही करते हैं। अनेक प्रकार के व्रत-उपवास-वेला-तेला आदि तथा पर्व विशेष अर्थात् दशलक्षण पर्व तथा षोडशकारणव्रत, रत्नत्रय, आष्टाह्निक आदि पर्वों पर स्वयं स्वेच्छा से उपवास करते हैं। वे आहार के वश में नहीं हैं, किन्तु आहार उनके वश में है। यद्यपि यह सहज ही शारीरिक बाधा है, परन्तु उन पर हावी नहीं है।

तृषा और क्षुधा-परीषह के संबंध में 'बाईस परीषह' नामक काव्य में बहुत स्पष्ट उसका स्वरूप बताया है। लिखा गया है-

पराधीन मुनिवर की भिक्षा परघर लेय कहैं कुछ नाहीं।

प्रकृति विरुद्ध पारणा भुंजत बद्धत प्यास की त्रास तहाँ ही।

ग्रीषम काल पित्त अति कोपै लोचन दीप फिरें गलबाहीं।

नीर न चहै सहै ऐसे मुनि जयवन्तो बरतो जगमाहीं।

क्षुधा के सम्बन्ध में -

अनशन ऊनोदर तप पोषत पक्ष मास दिन बीत गए हैं,

जो नहीं बनी योग्य भिक्षा विधि सूख अंग सब शिथिल भए हैं।

ऐसी दुसह भूख की वेदन सहत साधु नहीं नेक नए हैं,

तिनके चरण कमल की प्रतिदिन हाथ जोड़ हम पाँय परे हैं।

उक्त वर्णन से साधु के क्षुधा-परीषह का पूर्ण दिग्दर्शन हो जाता है। अध्यात्मनिष्ठ मुनिजन देह की उपेक्षा करते हैं, उसे अपनी साधना में सहायक तो बनाते हैं, पर उसके वश होकर देह-साधना नहीं करते।

क्षुधा-परीषह सहन करने वाले व्यक्ति अन्त समय की सल्लेखना को भी सुखपूर्वक साध सकते हैं।

सल्लेखना देहान्त के समय के लिये अमृततुल्य है। कहा है - 'अन्तःसमाधिमरणं तपःफलं सकलदर्शनः स्तुवते'। अर्थात् जीवन के अन्त में सल्लेखना जीवन भर की तपस्या का फल है, ऐसा सकलदर्शी भगवान् केवली ने कहा है। अथवा सम्पूर्ण दर्शन जो आस्तिक हैं जीव का सद्भाव (अस्तित्व) मानते हैं, वे भी कहते हैं कि जीवन भर की तपस्या का फल समाधिमरण ही है।

भगवती आराधना में आचार्य शिवकोटि ने लिखा है कि समाधिसहित मरण करने वाला नियम से सात-आठ भव में मुक्ति गामी होता है। यह सहज संभाव्य है कि अन्तसमय क्षुधा तृषादि की बाधाएँ नियम से उपस्थित होती हैं। शरीर क्षीण (बलहीन) होने से बाधाएँ सहना कठिन प्रतीत होता है, तथापि जिसने पूर्वावस्था में क्षुधा-परीषह-जय को अपनी साधना का मुख्य अंग बनाया है वह देहान्त के समय उक्त बाधाओं से विचलित नहीं होता। थोड़ा-सा भी उपदेश उसकी कमजोरी में अवलम्ब बनकर साहस उत्पन्न कर देता है।

आत्माराधना करने का इच्छुक अपनी दृष्टि बाहर से मोड़ता है जैसे अपने गृहकार्य में तत्परता से संलग्न व्यक्ति का ध्यान उस समय पड़ौसी की गतिविधि पर, उसके सुख-दुख या हानि-लाभ पर नहीं जाता, इसी प्रकार आत्माराधक देह को पड़ौसी समझता है, उससे राग-द्वेष-मोह नहीं करता, इसीलिए शरीर पर आने वाली बाधाएँ उसे आत्माराधना से नहीं हटा पातीं।

भेदज्ञानी अर्थात् देहात्म भेद-विज्ञान का धनी ही आत्माराधना में समर्थ होता है, वह व्यग्र नहीं होता। मुनिजनों का आहार परघर होता है। वे आरंभ-परिग्रह के सर्वथा त्यागी हैं, मन-वचन-काय से तथा कृत-कारित-अनुमोदना से (3x3=9 भंगों से) आरंभ के प्रति मुनि किञ्चिन्मात्र भी संबंध नहीं रखते। ऐसी अवस्था में देह के लिये अत्यावश्यक भोजन भी उनके लिए उपेक्षणीय बन जाता है।

जैनागम की आज्ञाप्रमाण विधि से ही प्राप्त अन्न को वे ग्रहण करते हैं। उनका आहार केवल देह को संयमसाधना का माध्यम बनाने के लिये है, शरीर-पोषण के लिये नहीं। यही कारण है कि भोजन दिन में केवल एक बार ही होता है, यथाप्राप्त ही लेते हैं, याचनारहित,

रसरहित ही लेते हैं। रसवान भी आहार प्राप्त हो तो उसके स्वाद ग्रहण में लालसा या लोलुपता नहीं होती।

बड़ा कठिन है जैन मार्ग। स्वादिष्ट आहार जीभ के माध्यम से ही पेट में जाता है, पर जीभ की नहीं सुनना, रूक्षाहार और स्निग्ध आहार में भेद नहीं करना-एक से राग और अन्य से द्वेष नहीं करना। राग-द्वेष की उत्पत्ति तो तब ही होती है जब स्वाद इष्ट हो, और रूक्ष अनिष्ट हो। इष्ट-अनिष्ट की कल्पना राग द्वेष के आधार पर होती है। वीतरागी साधु को वीतरागता के आधार पर ही न कोई पदार्थ इष्ट होता है और न कोई अनिष्ट होता है।

जिनोपदेश सदा उनके समक्ष रहता है। वे तत्त्वज्ञानी हैं अतः प्रत्येक पदार्थ को तात्त्विक दृष्टि से ही देखते हैं। इसी से उनमें राग-द्वेष भाव न होकर वीतराग भावों की ही अभिवृद्धि होती रहती है। आहार की कांक्षा, तृषा की वेदना होने पर वे मुनि-परम्परा में होने वाले कठिन तपस्वियों के चारित्र को ध्यान में रखकर धैर्य धारण करते हैं।

नरकों में, तिर्यग्गति में कैसी-कैसी भयंकर भूख-प्यास की

बाधाएँ सही हैं, उनका स्मरण करते हैं, और इन आधारों पर उस वेदना को समतापूर्वक सहन करते हैं। वैसे तो सभी प्राणी भूख-प्यास की वेदना से पीड़ित हैं, जो उपाय कर सकते हैं वे कुछ क्षणिक उपायों से कुछ समय को (कृत्रिम उपायों से) शमन करते हैं। कुछ योग्य-अयोग्य, भक्ष्य-अभक्ष्य का विचार न कर उन बाधाओं को शमन करने की चेष्टा करते हैं। कुछ प्राणी साधनों के अभाव में रोते-बिलखते दीन हुए उसे सहते हैं। सहना तो सभी को अनिवार्य है पर साधुजन उन बाधाओं का समतापूर्वक मुकाबला करते हैं। उनका परिणाम विचलित नहीं होता। वे परमधैर्यरूपी जल से ही तृषा बुझाते हैं, शास्त्र के अमृत रूप उपदेश के भोजन से ही क्षुधावेदना मेटते हैं।

धन्य है वे वीतरागी योगी, जो इन क्षुधा-तृषा वेदनाओं को समताभावपूर्वक दूरकर, आत्मनिष्ठ हो, परमार्थ का साधन करते हैं। ऐसे त्रिलोकवन्द्य योगीश्वरों के चरणों में बार-बार नमस्कार।

वात्सल्य रत्नाकर (तृतीय खण्ड)
से साभार

बालवार्ता : बोधकथाएँ

अनपढ़ बहू और शिक्षित सास

एक परिवार में तीन ही सदस्य थे, पति-पत्नी और उन दोनों का एक बेटा। जवान होने पर धूमधाम से बेटे का विवाह कर दिया गया। बहू घर में आई। वह देखने में बहुत सुंदर थी। बोलती भी बहुत मीठी थी, पर अपढ़ थी। अपढ़ ही नहीं, नासमझ भी थी।

एक दिन पड़ोस में किसी के यहाँ मौत हो गयी थी। सास किसी कार्य में व्यस्त थी। उसने बहू को भेजा, वहाँ सान्त्वना देने के लिये। बहू वहाँ गयी और शाब्दिक सान्त्वना देकर आ गई। उसने न दुख व्यक्त किया और न वह रोई। सास ने कहा/समझाया कि वहाँ रोना आवश्यक था बहू।

योग की बात है अचानक दूसरे ही दिन पड़ोस के एक अन्य घर में पुत्र का जन्म हुआ। सास ने फिर बहू को वहाँ भेजा। सास के बताये अनुसार वहाँ पहुँचते ही बहू ने रोना शुरू कर दिया। कुछ देर रोती रही, पश्चात् अपने घर लौट आई। घर लौटी, तो सास के पूछने पर उसने सास को बताया कि आपके कहे अनुसार मैंने वहाँ जाते ही रोना शुरू कर दिया था।

सास ने बहू को फिर समझाया 'क्या करती हो बहू, वहाँ तो तुझे प्रसन्न होकर गीत गाना चाहिए था, अब आगे ध्यान रखना।' बहू ने सास की यह बात भी बड़े ध्यान से सुनी। फिर एक दिन की बात है, वह बहू ऐसे घर में गयी जहाँ आग लग गई थी। उसने सास के कहे अनुसार वहाँ गीत गाये और प्रसन्नता व्यक्त की।

अनपढ़ बहू के समयोचित कार्य न करने से उसके कार्यों की सभी ने निंदा की। वह सर्वत्र हँसी की पात्र बनी। आवश्यक कार्यों को समयोचित करने की लिये बुद्धिमत्ता आवश्यक है। विवेक और बुद्धि के अभाव में ऐसी ही दशा हर अज्ञानी की है। आवश्यक कार्य करना नहीं और वासना का दास बना रहता है। आवश्यक कार्य है - मन और इन्द्रियों को समय पर (विषयों के आधीन होते समय) वश में करना। जो ऐसा नहीं करते, महर्षि उनके क्रिया-कलाप देखकर हँसते हैं।

'विद्याकथाकुञ्ज' से साभार

सरल प्रश्न का अजीब उत्तर

घटना बादशाह अकबर के समय की है। बादशाह का दरबार लगा हुआ था। बीरबल राजदरबार में बैठे हुए थे। एक व्यक्ति राजदरबार में आया। उसने बादशाह और मंत्री दोनों को एक जगह पाकर प्रसन्नता व्यक्त की। दोनों को उसने प्रणाम किया तथा दोनों के समक्ष उसने प्रश्न किया राजदरबार में, कि- 'सत्ताईस में से दस निकाल दिये जायें तो कितने बचेगे?'

सभी लोग सोच में पड़ गये कि सत्ताईस में से दस चले गये तो शेष सत्रह बचेगे। यह तो बहुत आसान सी बात है। लेकिन यदि इतना आसान गणित होता, तो राजदरबार में वह व्यक्ति क्यों पूछता? सभी एक दूसरे की ओर देखने लगे। किसी के समझ में नहीं आया कि रहस्य क्या है?

बीरबल चुप थे। अकबर ने इशारा किया तो हाजिर जवाब बीरबल बोले- राजन! सत्ताईस में से दस निकल जाने पर कुछ नहीं बचेगा। बीरबल का उत्तर सुनकर सभी भौचक्के रह गये। कुछ लोग हँसने लगे कि ये कौन से स्कूल में पढ़कर आये हैं? इनके गुरुजी कौन हैं? इन्हें इतना भी ज्ञान नहीं।

तब बीरबल ने समझाया कि बात सिर्फ गणित हल करने की नहीं है। बात अनुभव की है। सत्ताईस नक्षत्र होते हैं। उनमें से दस नक्षत्र ऐसे हैं जिनमें वर्षा होती है। यदि वे नक्षत्र निकाल दिये जायें तो वर्षा के अभाव में फसल नहीं होगी। अकाल की स्थिति हो जायेगी और सभी का जीवन समाप्त हो जायेगा। तब पृथ्वी पर कुछ भी शेष नहीं बचेगा।

इसी प्रकार त्रस पर्याय मिलने के उपरान्त मनुष्यभव यूँ ही रत्नत्रय की आराधना के बिना निकाल दो, तो फिर कल्याण करने का अवसर कभी नहीं मिलेगा।

'विद्याकथाकुञ्ज' से साभार

कर्मों का प्रेरक स्वरूप

प्रो. रतनचन्द्र जैन

आगम में निमित्त दो प्रकार के बतलाये गये हैं - उदासीन और प्रेरक। जो किसी द्रव्य को अपनी ओर से किसी क्रिया में प्रवृत्त नहीं करते, अपितु स्वयं प्रवृत्त होने पर सहायता मात्र करते हैं, वे उदासीन निमित्त कहलाते हैं। जैसे धर्मद्रव्य जीव और पुद्गल को अपनी ओर से चलने में प्रवृत्त नहीं करता (अर्थात् वह ऐसा प्रभाव उत्पन्न नहीं करता कि जीव स्वयं चल पड़े), बल्कि स्वयं चलने में प्रवृत्त होने पर सहायता मात्र करता है, अतः वह उदासीन निमित्त है। किन्तु जो निमित्त ऐसा प्रभाव उत्पन्न करते हैं कि द्रव्य-विशेष किसी कार्य में स्वयं तो प्रवृत्त न हो, किन्तु उनके प्रभाव से प्रवृत्त होने लगे वे प्रेरक निमित्त कहलाते हैं। उदाहरणार्थ, जीव मोहरागादि रूप से परिणत होने की स्वयं चेष्टा नहीं करता, न यह उसके स्वभाव के अनुकूल है, जैसा कि आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा है - आत्मात्मना रागादीनामकारक एव¹ (आत्मा स्वयं रागादि का अकर्ता ही है) किन्तु पुद्गलकर्म उदय में आकर ऐसा प्रभाव उत्पन्न करते हैं कि जीव मोहरागादिरूप से परिणत हो जाता है। अतः पुद्गलकर्म प्रेरक निमित्त हैं। उपासकाध्ययन में कहा गया है -

प्रेर्यते कर्म जीवेन जीवः प्रेर्यत कर्मणा।

एतयोः प्रेरको नान्यो नौनाविक समानयोः॥²

अर्थ - जीव कर्म को प्रेरित करता है, कर्म जीव को। दोनो का सम्बन्ध नौका और नाविक के समान है। इनका कोई तीसरा प्रेरक नहीं है।

पूज्यपाद स्वामी ने भी कहा है, 'संसारे परिभ्रमन् जीवः कर्मयन्त्रप्रेरितः पिता भूत्वा भ्राता पुत्रः पौत्रश्च भवति।'³ अर्थात् संसार में भटकता हुआ जीव कर्मरूपी यंत्र से प्रेरित होकर कभी पिता बनता है, तो कभी पिता बनकर भाई, पुत्र या पौत्र बनता है।

किन्तु कुछ विद्वान् कर्मों को भी धर्मादि द्रव्यों के समान उदासीन ही मानते हैं, प्रेरक नहीं। उनके अनुसार जैसे धर्मादि द्रव्य जीव के गति आदि क्रिया में स्वयं प्रवृत्त होने पर सहायता मात्र करते हैं, वैसे ही जब जीव रागादिरूप से परिणत होने के लिये स्वयं प्रवृत्त होता है तब पुद्गलकर्म उसमें सहायता मात्र करते हैं।⁴ आगम में पुद्गलकर्मों को प्रेरक कहा गया है उसकी वे दूसरी ही व्याख्या करते हैं। वे कहते हैं पुद्गल कर्म, नोकर्म, मेघ, बिजली, वायु आदि जड़ वस्तुएँ क्रियावान् (सक्रिय) हैं।⁵ उनकी ईरण (गति) क्रिया की प्रकृष्टता अन्य द्रव्यों के क्रिया व्यापार के समय उनके बलाधान में निमित्त होती है इस बात को ध्यान में रखकर ही उन्हें प्रेरक कहा गया है।⁶ बलाधान के विषय में भी उनका मत है कि कार्योत्पत्ति के समय बल का आधान स्वयं उपादान करता है, किन्तु उसमें निमित्त अन्य द्रव्य होता है।⁷ तात्पर्य यही है कि पुद्गल कर्म जीव को रागादिरूप परिणत होने

कर्म प्रेरक हैं पर अपराजेय नहीं। वे आत्मा को अभिभूत करने की चेष्टा करते हैं, किन्तु जब उनका प्रभाव तीव्र नहीं होता, उस समय पौरुष करके प्रतिरोध किया जाय, तो वे हावी नहीं हो पाते और इस प्रकार के निरन्तर पौरुष से उन्हें जड़ से उखाड़ा जा सकता है।

के लिये प्रभावित नहीं करते, अपितु जब वह स्वयं रागादिरूप परिणत होने की चेष्टा करता है तब वे उसमें सहायता कर देते हैं। 'सहायता कर देते हैं' यह कहना भी उचित नहीं है। वे (पुद्गलकर्मरूप निमित्त) वहाँ मात्र उपस्थित रहते हैं, यह कहना ही उचित है।

यह मत समीचीन नहीं है। आत्मा के साथ संयुक्त पुद्गलकर्म धर्म, अधर्म, आकाश, काल तथा गुरु आदि निमित्तों से भिन्न है। इनके समान वे जीव के स्वतः परिणमन में उदासीनरूप से सहायता मात्र नहीं करते, बल्कि उसे इस प्रकार प्रभावित करते हैं कि वह स्वाभाविक क्रिया छोड़कर स्वभाव से विपरीत क्रिया करने लगता है। कर्म इसलिये प्रेरक नहीं कहलाते कि उनकी ईरण (गति) क्रिया की प्रकृष्टता जीव के रागादिरूप परिणमन व्यापार में सहायता मात्र करती है, बल्कि इसलिये कहलाते हैं कि वे अपनी ओर से ऐसा प्रभाव उत्पन्न करते हैं, जिससे जीव स्वभाव से विपरीत रागादिरूप परिणमन करने लगता है। यद्यपि परिणमन शक्ति जीव में ही है, तथापि कर्मजनित प्रभाव के बिना जीव के परिणमन में रागादि विकार नहीं आ सकता। वह कर्मोदय के प्रभाव से ही संभव है।

धर्मादि द्रव्य एवं गुरु आदि निमित्त उपादान के उसी गुण के परिणमन में सहायता करते हैं, जो उसमें स्वभावतः है। उसमें न कोई बाधा पहुँचाते हैं, न किसी अस्वाभाविक दशा की उत्पत्ति में हेतु बनते हैं। किन्तु कर्म ठीक इसके विपरीत हैं। वे जीव के स्वभावभूत गुण के परिणमन में सहायता नहीं करते, अपितु बाधा पहुँचाते हैं तथा अस्वाभाविक दशा की उत्पत्ति में हेतु बनते हैं।⁸ इसीलिए उनके नाम ज्ञानावरण (ज्ञान को आवृत्त करने वाला), दर्शनावरण (दर्शन को आवृत्त करने वाला), मोहनीय (मोहित करने वाला), अन्तराय (विघ्न उपस्थित करने वाला) आदि हैं।⁹

ज्ञानावरण कर्म आत्मा के ज्ञान गुण को आवृत्त ही करता है, तभी अज्ञान उत्पन्न होता है।¹⁰ ऐसा नहीं है कि आत्मा में स्वभाव से अज्ञान नामक गुण है और ज्ञानावरण कर्म उसी के परिणमन में सहायता करता है। इसी प्रकार मोहनीय कर्म आत्मा के श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र गुणों के स्वाभाविक परिणमन में बाधा डालकर उनके मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान एवं मिथ्याचारित्र के रूप में परिणत होने का कारण बनता है। ऐसा नहीं है कि मिथ्यादर्शनादि आत्मा के स्वभावभूत धर्म हैं और आत्मा जब इन धर्मों के रूप में स्वयं परिणत होने के लिये उद्यत होता है तब मोहनीय कर्म उसमें सहायता मात्र कर देता है।

धर्मादि द्रव्य जीव के स्वभाव का घात (आच्छादन एवं विपर्यय) नहीं करते, किन्तु पुद्गल कर्म जीव के स्वभाव का घात करते हैं, इसीलिए ज्ञानावरणादि चार कर्मों को घाती कर्म कहा गया है -

‘केवलगाण-दंसण-सम्पत्त-चारित्त- वीरियाणमणयेभ्य- भिण्णाणं जीवगुणाणं विरोहित्तणेण तेसिं घादिववदेसादो।’¹¹

इसके अतिरिक्त जीव के निष्क्रिय रहने पर धर्मादि द्रव्य उसे गति आदि क्रियाओं में प्रवर्तित नहीं करते, किन्तु कर्म जीव की निष्क्रिय अवस्था में ही उसे रागादिरूप परिणत होने के लिये उद्दीप्त करते हैं। यहाँ तक कि कभी-कभी प्रतिरोध किये जाने पर भी जीव को रागादि के वशीभूत कर देते हैं, जिससे उच्चभूमिका में स्थित साधक को भी समाधि से च्युत होकर भक्ति आदि शुभराग में लगना पड़ता है¹² और निम्न भूमिका में स्थित श्रावक यह जानते हुए भी कि विषय सुख हेय है, कर्मोदय के वशीभूत हो विषय-सेवन के लिये विवश होते हैं।¹³ ये तथ्य प्रमाणित करते हैं कि कर्म धर्मादि द्रव्यों से भिन्न प्रकार के निमित्त हैं जिनका स्वभाव उदासीनरूप से सहायक होना नहीं है, बल्कि जीव के स्वभाव का घात करना तथा उसे परतन्त्र बनाने का प्रयत्न करना है। इस अर्थ में ही उन्हें प्रेरक कहा गया है।

आगम में जो यह कहा गया है कि जीव कर्मोदय के निमित्त से स्वयं रागादिरूप परिणत होता है, कर्म उसे बलपूर्वक नहीं परिणामते, यह जीव की कथंचित् परिणामित्व शक्ति को दर्शाने के लिये कहा गया है अर्थात् यह बतलाने के लिये कि जीव में कर्मों की रागादि प्रकृति से प्रभावित होने की स्वाभाविक शक्ति है इसलिये वह उससे प्रभावित होकर रागादिरूप परिणत हो जाता है। यदि यह शक्ति न होती तो कर्म उसे बलपूर्वक प्रभावित न कर पाते। इसी स्वभावभूत परिणमन शक्ति को दृष्टि में रखकर जीव को रागादिभावों का उपादानकर्ता तथा कर्मोदय को निमित्तमात्र कहा जाता है।¹⁴

स्वपरप्रत्ययपरिणमन

किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि रागादिभाव भी जीव के स्वभाव से ही उद्भूत होते हैं और कर्म उनकी उत्पत्ति में धर्मादिद्रव्यों के समान उदासीनरूप से सहायता मात्र करते हैं। यदि ऐसा हो तो रागादिभाव जीव के स्वभाव सिद्ध होंगे और उनकी उत्पत्ति के लिये कर्मरूप निमित्त की आवश्यकता सिद्ध न होगी, क्योंकि गत्यादिरूप परिणमन के लिये धर्मादिद्रव्य तथा अन्य स्वाभाविक परिणमन के लिये केवल कालद्रव्यरूप निमित्त आवश्यक है। आत्मा का रागादिभावरूप परिणमन स्वपरप्रत्ययपरिणमन है जो कुछ स्वतः होता है, कुछ कर्मों के निमित्त से होता है। इस दृष्टि से आत्मा और पुद्गल कथंचित् ही परिणामी हैं, कथंचित् अपरिणामी हैं।¹⁵ इसे आचार्य जयसेन ने निम्नलिखित विवेचन में स्पष्ट किया है-

‘यदि यह कहा जाए कि पुद्गलकर्मरूप द्रव्यक्रोध उदय में आकर जीव को बलपूर्वक भावक्रोधरूप परिणाम देता है तो प्रश्न है कि वह अपरिणामी जीव को परिणामाता है या परिणामी को? अपरिणामी को तो परिणामा नहीं सकता, क्योंकि जो शक्ति वस्तु में स्वतः नहीं है उसे कोई दूसरा उत्पन्न नहीं कर सकता। जपापुष्पादि पदार्थ जिस प्रकार स्फटिक आदि में उपाधि उत्पन्न कर देते हैं वैसे लकड़ी-खम्भे आदि में नहीं कर सकते, क्योंकि वे स्वतः परिणामी नहीं हैं। इसके विपरीत यदि कर्म एकान्ततः परिणामी जीव को परिणामते हैं तो उदय में आये हुए द्रव्यक्रोधरूप निमित्त के बिना भी वह भाव क्रोधरूप परिणमित हो सकता है, क्योंकि वस्तु में जो शक्तियाँ हैं वे पर की उपेक्षा नहीं करती अर्थात् यदि रागादिभाव जीव में ही शक्ति रूप में विद्यमान हो तो कर्मरूप निमित्त की आवश्यकता नहीं होगी। इस

स्थिति में मुक्तात्माओं में भी भाव क्रोधादि उत्पन्न होने लगेंगे। किन्तु यह आगम विरुद्ध होने से मान्य नहीं है। अतः सिद्ध है कि जीव में स्वभावभूत कथंचित्परिणामित्व शक्ति है।¹⁶ यहाँ आचार्यश्री ने जीव को सर्वथा परिणामी न बतलाकर कथंचित् परिणामी बतलाया है जिसका फलितार्थ यह है कि वह कथंचित् अपरिणामी भी है और कथंचित् अपरिणामी होने से (रागादि की शक्ति स्वयं में न होने से) ही रागादिरूप परिणमन के लिये कर्मोदय रूप निमित्त की आवश्यकता है। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कर्मोदय रूप निमित्त कथंचित् अपरिणामी को परिणामाता है अतः कर्म उद्दीपक निमित्त है। धर्मादिद्रव्य कथंचित् अपरिणामी को नहीं परिणामते, अपितु जो गत्यादि में स्वयं परिणत हो जाता है उसके ही गत्यादिपरिणाम में सहायता करते हैं। इसलिये वे उदासीन हैं।

परिणाम विकार के हेतु

तात्पर्य यह कि कर्मों के मोहरागात्मक स्वभाव से प्रभावित होकर मोहरागात्मक हो जाना ही जीव का कथंचित् परिणामी होना है। यह उसकी स्वभावभूत शक्ति है।¹⁷ यही स्वपरप्रत्ययपरिणमन है। इससे इस तथ्य की विज्ञप्ति होती है कि आत्मा के परिणामों में जो रागादि विकार आते हैं वे कर्मोद्दीपित ही हैं। आचार्य अमृतचन्द्र ने साफ कहा है कि आत्मा के परिणाम में जो मिथ्यादर्शनादिरूप विकार आता है वह परद्रव्य (कर्म) से ही उत्पन्न होता है - ‘सः (त्रिविधः परिणामविकारः) तु तस्य स्फटिकस्वच्छताया इव परतोऽपि प्रभवन् दृष्टः।’¹⁸ तथा ‘तस्मिन्निमित्तं परसङ्ग एव।’¹⁹

पूर्व में निर्देश किया गया है कि कर्मों का निमित्तस्वभाव विशेष प्रकार का है, सामान्य प्रकार का नहीं। वे ऐसे निमित्त हैं जिनके कारण आत्मा स्वाभाविक परिणमन छोड़कर विपरीत परिणमन करने लगता है। इसे आचार्य अमृतचन्द्र ने इस प्रकार समझाया है- ‘जैसे नीले, हरे और पीले पदार्थों के सम्पर्क से स्फटिक पाषाण के स्वच्छ स्वरूप में नील, हरित और पीत विकार आ जाते हैं, वैसे ही मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वभाववाले मोहकर्म के संयोग से आत्मा के निर्विकार परिणाम में मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्या चारित्र ये तीन विकार उत्पन्न हो जाते हैं।’²⁰

चूँकि कर्मों का सम्पर्क ही निर्विकार आत्मा में विकारोत्पत्ति का हेतु है, अन्यथा उसमें विकार उत्पन्न नहीं हो सकता, अतः सिद्ध है कि कर्म उदासीन निमित्त नहीं हैं, उद्दीपक है।

शक्ति का घात होने पर ही जीव रागादिरूप परिणत होता है

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण बात ध्यान में देने योग्य है। कर्मोदय होने पर जीव स्वयं रागादिरूप परिणत होता है, इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वह बिना किसी प्रतिरोध के परिणत हो जाता है। स्फटिक के समान परिणामी होते हुए भी वह स्फटिकवत् जड़ नहीं है कि कर्मोदय होने पर बिना किसी प्रतिरोध के तटस्थभाव से रागादिरूप परिणम जाय। रागादिरूप परिणत होने में स्वभाव से च्युत होना पड़ता है, जैसा कि श्री अमृतचन्द्र सूरि ने कहा है- ‘परद्रव्येणैव... रागादिनिमित्तभूतेन शुद्धस्वभावात्प्रच्यवमान एव रागादिभिः परणम्येते।’²¹ स्वभाव सुख का हेतु है, विभावभाव (रागादिभाव) दुःख के कारण है। कोई भी जीव सुख को छोड़कर दुःख स्वीकार नहीं करना चाहता। हम देखते हैं कि प्रायः लोग अशान्ति से बचने के लिये क्रोधादि के अवसरों को टालने का ही प्रयत्न करते हैं। असमर्थ

होने पर ही उनके वशीभूत होते हैं। अतः कर्मोदय होने पर जीव उनके रागादि प्रभाव का प्रतिरोध ही करता है। जब परास्त हो जाता है तभी स्वभाव को छोड़कर रागादिरूप परिणत होता है। इस प्रकार कर्मों की शक्ति आत्मशक्ति को अभिभूत करने वाली है, जैसा कि अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है - 'आत्मा हि ज्ञान दर्शनसुखस्वभावः संसारावस्थायामनादिकर्मक्लेशसङ्कोचितात्मशक्तिः'²² अर्थात् आत्मा ज्ञानदर्शनसुखस्वभाव है, किन्तु संसारावस्था में अनादि कर्मों के उदय ने उसकी शक्ति को संकुचित कर दिया है। इसीलिए ज्ञानवरणादि चार कर्मों को घाती (आत्मस्वभावघातक) कहा गया है। अज्ञानी ही नहीं, ज्ञानी भी कर्मों की अभिभावक शक्ति से परास्त हो जाते हैं यह पूर्व में बतलाया जा चुका है। पंडित टोडरमल जी कहते हैं - 'जब कर्मों का तीव्र उदय होता है तब पुरुषार्थ नहीं हो सकता, साधक ऊपर के गुणस्थानों से भी गिर जाता है'²³ पंडित आशाधरजी का कथन है-

त्याज्यानजस्रं विषयान्प्रश्यतोऽपि जिनाज्ञया।

मोहन्यक्तुमशक्तस्य गृहधर्मोऽनुमन्यते।²⁴

अर्थात् जिनेंद्रदेव के उपदेश से विषयों को निरन्तर त्याज्य समझते हुए भी जो चारित्रमोह के उदय से उनका त्याग करने में असमर्थ हैं, उन सम्यग्दृष्टि भव्य जीवों के लिये गृहस्थधर्म की अनुमति दी गई है।

यह कथन दर्शाता है कि कर्मोदय जीव की शक्ति का हरण कर उसे असमर्थ बना देता है, तभी वह विषय वासनाओं के वशीभूत होता है। कर्मों की अभिभावक शक्ति कितनी भीषण है यह आचार्य अमृतचन्द्र जी के निम्न वक्तव्य से प्रकट हो जाता है-

'इह सकलस्यापि जीवलोकस्य संसारचक्रक्रोडाधिरोपितस्य एकच्छत्रीकृतविश्रतया महता मोहग्रहेण गोरिव वाह्यमानस्य...'²⁵

अर्थात् यह जीवलोक जो संसाररूपी चक्र के मध्य में स्थित है, समस्त विश्व पर एक छत्र राज्य करने वाले मोहरूप बलवान् पिशाच के द्वारा इस प्रकार हाँका जाता है, जैसे लोग बैल को हाँकते हैं।

इस कथन में 'समस्त विश्व पर एकछत्र राज्य करने वाला' 'बलवान् पिशाच' तथा 'जीवलोक को बैल के समान हाँकने वाला' इन शब्दों से अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है कि कर्मों की शक्ति कितनी दुर्धर्ष है।

इस दुर्धर्ष एवं जीव स्वभावघातक प्रकृति के कारण ही कर्मों को शत्रु की उपमा दी गई है और उनको जीत लेने के कारण ही आत्माएँ 'जिन' कहलाती हैं- 'अनेकभवगहनविषय-व्यसनप्रापणहेतून् कर्मांरातीन् जयतीति जिनः'²⁶

कर्मों की प्रचण्ड शक्ति का ज्ञान श्री ब्रह्मदेव सूरि के निम्नलिखित विवेचन से भी होता है -

'शिष्य प्रश्न करता है - संसारियों को निरन्तर कर्मबन्ध होता है, इसी प्रकार उदय भी होता है, शुद्धोपयोग का अवसर नहीं है, तब मोक्ष कैसे सम्भव है? उत्तर-जैसे शत्रु की क्षीणावस्था देखकर मनुष्य पौरुष करके उसका विनाश कर देता है, वैसे ही कर्मों की भी सदा एक जैसी अवस्था नहीं रहती। उसमें प्रबलता और मन्दता होती रहती है। अतः जब मन्दावस्था आती है तब ज्ञानी जीव निर्मल भावना रूप विशेष खड्ग से पौरुष करके कर्मशत्रुओं का हनन कर डालता

है।'²⁷

इस कथन से भी यही प्रकट होता है कि कर्म जीव को कभी-कभी इतना अशक्त बना देते हैं कि वह उनके चंगुल से छूटने का पौरुष भी नहीं कर पाता। जब उनकी शक्ति मन्द होती है तभी उन पर प्रहार सम्भव होता है।

सार यह है कि यद्यपि जीव कर्मोदय के निमित्त से स्वयं ही रागादिरूप परिणत होता है, तथापि कर्मोदय के दुर्धर्ष प्रभाव से पराजित होने के बाद ही परिणत होता है। अतः उसका स्वयं परिणत होना भी विवशता का ही परिणमन है। इससे स्पष्ट होता है कि कर्म उदासीन नहीं है, अपितु अत्यंत आक्रामक है।

कर्मों को शत्रु की उपमा दी गई है। शत्रु उदासीन नहीं होता, आक्रामक होता है, सहायक नहीं होता, बाधक होता है। उससे युद्ध होता है और उसे जीत लेने पर व्यक्ति विजेता या 'जिन' कहलाता है। धर्मादि द्रव्यों को शत्रु की संज्ञा नहीं दी गई, क्योंकि वे उदासीन होते हैं, आक्रामक नहीं, मित्रवत् सहायक होते हैं, शत्रुवत् बाधक नहीं। इस प्रकार कर्मों के प्रेरक होने का अर्थ है उनका आक्रामक, उद्दीपक, अभिभावक, प्रयोजक, बाधक या घातक होना। इसी अर्थ में उन्हें आगम में प्रेरक कहा गया है, अन्य किसी अर्थ में नहीं। यह उपर्युक्त प्रमाणों एवं युक्तियों से सिद्ध है। व्युत्पत्ति के अनुसार भी प्रेरक शब्द का यही अर्थ है। और उदासीन शब्द का प्रतिपक्षी होने के कारण भी उसका यही अर्थ फलित होता है। धर्मद्रव्य के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं-

'जैसे जल मछलियों के चलते समय न तो स्वयं चलता है न उन्हें चलाता है, किन्तु उदासीनरूप से उनके चलने में सहायता करता है वैसे ही धर्मद्रव्य भी जीव और पुद्गल के चलने पर न स्वयं चलता है, न उन्हें चलाता है, अपितु उदासीन रूप से उनके चलने में सहायता करता है।'²⁸

इससे ज्ञात होता है कि अन्य द्रव्यों को किसी क्रिया के लिये उत्तेजित न करना, अपितु जो क्रिया वे स्वयं करते हैं, उसी में सहायता करना निमित्त के उदासीन होने का लक्षण है। प्रेरक शब्द उदासीन का प्रतिपक्षी है। यह इस बात से स्पष्ट है कि आचार्य जयसेन ने 'उदासीन' और 'अप्रेरक' शब्दों का प्रयोग एक ही अर्थ में किया है।²⁹ अतः अन्य द्रव्य जो क्रिया स्वयं न करे (किन्तु उत्तेजित किये जाने पर कर सके) उसे करने के लिये उत्तेजित करना या जो स्वयं करता हो उसमें बाधा डालना 'प्रेरक' शब्द का अर्थ है। कर्म इसी प्रकार का कार्य करते हैं अतः वे इसी अर्थ में प्रेरक हैं।

कर्म अपराजेय नहीं

कर्म प्रेरक है, किन्तु अपराजेय नहीं है। वे आत्मा को अभिभूत करने की चेष्टा करते हैं, किन्तु जब उनका प्रभाव तीव्र नहीं होता, उस समय पौरुष करके प्रतिरोध किया जाय तो वे हावी नहीं हो पाते और इस प्रकार के निरन्तर पौरुष से उन्हें जड़ से उखाड़ा जा सकता है। यह श्री ब्रह्मदेवसूरि के पूर्वोद्धृत वचनों से प्रमाणित है।

इस तरह आक्रामक, बाधक, उद्दीपक, घातक, अभिभावक आदि रूप में ही कर्म प्रेरक है। वे धर्मादिद्रव्यों के समान अनाक्रामक, अबाधक, अनुद्दीपक तथा जीव की स्वभावभूत क्रिया में सहायक नहीं हैं। अतः उनसे (धर्मादिद्रव्यों से) सर्वथा विपरीत हैं। उनके इस प्रकार प्रेरक होने से मोक्ष के अभाव का प्रसंग उपस्थित नहीं होता। यदि

वे अपराजेय होते, तो ऐसा होता। संक्षेप में वे कथंचित् प्रेरक हैं, सर्वथा नहीं।

संदर्भ

1. समयसार/आत्मख्याति, 283-285
2. उपासकाध्ययन, 106
3. सर्वार्थसिद्धि 9/7
4. जो क्रियावान निमित्त प्रेरक कहे जाते हैं वे भी उदासीन निमित्तों के समान कार्योत्पत्ति के समय सहायक मात्र होते हैं।' (जैनतत्त्व मीमांसा/प्रथम संस्करण/पृ.83)'
5. वही/पृष्ठ 53
6. वही/पृष्ठ 84, 90
7. वही/पृष्ठ 54
8. 'परपरिणतिहेतोर्मोहनाम्नोऽनुभावादविरतमनुभाव्यव्याप्तिकल्माषितायाः।' (समयसार कलश 3)
9. तत्र घातीनि चत्वारि कर्माण्यन्वर्थसंज्ञया। घातकत्वादगुणानां हि जीवस्यैवेति वाक्सृतिः॥ (पंचाध्यायी 2/1002)
10. का वि अउव्वा दीसादि पुगगलदव्वस्य एरिसी सत्ती। केवलणाणसहावो विणासिदो जाइ जीवस्स॥ (कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 211)
11. धवला 7/2, 1, 15
12. एषः प्रशस्तो रागः... उपरितनभूमिकायामलब्धास्पदस्यास्थानरागनिषेधार्थतीव्ररागज्वरविनोदार्थं वा कदाचिज्ज्ञानिनोऽपि भवति।' (पंचास्तिकाय/तत्त्वप्रदीपिकावृत्ति, 136)
13. 'यथा कोऽपि तस्करो यद्यपि मरणं नेच्छति तथापि तलवरेण गृहीतः सन् मरणमनुभवति तथा सम्यग्दृष्टिः यद्यप्यात्मोत्थ-सुखमुपादेयं च जानाति विषयसुखं च हेयं जानाति तथापि

चारित्रमोहोदयतलवरेण गृहीतः सन् तदनुभवति।' (समयसार/तात्पर्यवृत्ति, 194)

14. 'तस्यां परिणामशक्तौ स्थितायां स जीवः कर्ता यं परिणाममात्मनः करोति तस्य स एवोपादानकर्ता, द्रव्यकर्मस्तु निमित्तमात्रम्।' (समयसार/तात्पर्यवृत्ति 121-125)
15. 'यदुक्तं पूर्वं पुण्यपापादिसप्तपदार्थजीवपुद्गलसंयोगपरिणामनिवृत्तास्ते च जीवपुद्गलयोः कथञ्चित्परिणामत्वे सति घटन्ते।' (वही)
16. वही/तात्पर्यवृत्ति 121-125
17. 'परद्रव्येणैव स्वयं रागादिभावापन्नतया स्वस्य रागादिनिमित्तभूतेन शुद्ध स्वभावात्प्रच्यवमान एव रागादिभिः परिणम्येत इति तावद्वस्तुस्वभावः।' (समयसार/ आत्मख्याति, 278-279)
18. समयसार/आत्मख्याति, 89
19. समयसारकलश, 175
20. समयसार/आत्मख्याति, 89
21. समयसार/आत्मख्याति 278-279
22. पंचास्तिकाय /त.प्र.29
23. मोक्षमार्ग प्रकाशक 9/314
24. सागारधर्मामृत 2/1
25. समयसार/आत्मख्याति, 4
26. पंचास्तिकाय/तात्पर्यवृत्ति, 1
27. बृहद्रव्यसंग्रहटीका, गाथा 36
28. पंचास्तिकाय/त.प्र. 85
29. तथा धर्मोऽपि गच्छतां जीवपुद्गलानामप्रेरकत्वेन बहिरङ्गनिमित्तं भवति।' वही/तात्पर्यवृत्ति, 88

137, आराधना नगर,
भोपाल-462003 म.प्र.

गीत

साँसे सँवारती हैं देह का मकान

अशोक शर्मा

साँसें सँवारती हैं देह का मकान।
मृत्यु मिटाती है मकान के निशान।



थोड़ी सी आग वाली यह छोटी देहरी
ले थोड़ी मिट्टी, हवा, पानी, आकाश
आयु भर करती जाने किसकी तलाश?
सूरज के उगने तक ही लगता है ऐसा।
सन्ध्या से रात जुड़ी, रात से विहान॥1॥



फैलाकर पंख सुनहले मन पाँखी उड़ता
नापूँ मैं अम्बर सारा ले इतनी पीड़ा
पंखों के झरने तक ही चलती है क्रीड़ा

लहरों में बहने तक ही लगता है ऐसा
जर्जर सी नैया सहती सौ-सौ तूफान॥2॥



सागर में डूबी गागर की इतनी गाथा
गागर में सागर होना, सागर में गागर
मैली या उजली सबकी होनी है चादर
प्रतिमा के जगने तक ही लगता है ऐसा
काम नहीं आती कोई भोर की अजाना॥3॥



साँसे सँवारती हैं देह का मकान।
मृत्यु मिटाती है मकान के निशान॥

अभ्युदय निवास, 36-बी, मैत्री विहार,
सुपेला, भिलाई (दुर्ग) छत्तीसगढ़

अक्टूबर 2001 जिनभाषित 13

वास्तुदेव

स्व. पं. मिलापचन्द्र जी कटारिया

श्री पं. आशाधरजी ने अपने बनाये प्रतिष्ठापाठ पत्र 43 में और अभिषेक पाठ के श्लोक 44 में वास्तुदेव का उल्लेख निम्न शब्दों में किया है-

श्री वास्तुदेव वास्तूनामधिष्ठातृतयानिशम्।

कुर्वन्ननुग्रहं कस्य मान्यो नासीति मान्यसे॥44॥

ओं ह्रीं वास्तुदेवाय इदमर्घं पाद्य.....

अर्थ - हे श्री वास्तुदेव (गृह देव) तुम गृहों के अधिष्ठातापने से निरन्तर उपकार करते हुए किसके मान्य नहीं हो? सभी के मान्य हो इसीलिये मैं भी आपको मानता हूँ।

ऐसा कहकर वास्तुदेव के लिये अर्घ देवें।

श्रुतसागर ने वास्तुदेव की व्याख्या ऐसी की है- 'वास्तुरेव देवो वास्तुदेवः।' घर ही को देव मानना वास्तुदेव है। जैसे लौकिक में अन्नदेव, जलदेव, अग्निदेव आदि माने जाते हैं। इससे मालूम होता है कि श्रुतसागर की दृष्टि में वह कोई देवगति का देव नहीं है। करणानुयोगी-लोकानुयोगी ग्रन्थों में भी वास्तु नाम के किसी देव का उल्लेख पढ़ने में नहीं आया है। आशाधर ने इस देव का नाम क्या है यह भी नहीं लिखा है। यहाँ तक कि इसका स्वरूप भी नहीं लिखा है।

प्रतिष्ठातिलक के कर्ता नेमिचन्द्र के सामने भी आशाधर का उक्त श्लोक था, जिसके भाव को लेकर उन्होंने जो श्लोक रचा है वह प्रतिष्ठातिलक के पृष्ठ 347 पर इस प्रकार है -

सर्वेषु वास्तुषु सदा निवसंतमेनं,

श्रीवास्तुदेवमखिलस्य कृतोपकारं।

प्रागेव वास्तुविधिकल्पितभागमी,

शानकोणदिशि पूजनया धिनोमि॥

अर्थ - सब घरों में सदा निवास करने वाले और सबका जिसने उपकार किया है तथा पहिले से ही जिसका ईशान कोण की दिशा में वास्तुविधि से यज्ञ भाग कल्पित है, ऐसे इन वास्तुदेव को पूजता हूँ।

अभिषेकपाठसंग्रह के अन्य पाठों में वास्तुदेव का उल्लेख नहीं है। हाँ, अगर जिनगृहदेव को वास्तुदेव मान लिया जाये तो कदाचित् जैनधर्म से उसकी संगति बैठाई जा सकती है, क्योंकि जैनागम में जिनमंदिर की नवदेवों में गणना की है। पता नहीं आशाधर और नेमिचन्द्र का वास्तुदेव के विषय में यही अभिप्राय रहा है या और कोई? फिर भी यह तो स्पष्ट ही है कि जैन कहे जाने वाले अन्य कितने ही क्रियाकांडी ग्रन्थों में वास्तुदेव को जिनगृहदेव के अर्थ में नहीं लिया

है।

जैसा कि नेमिचन्द्र प्रतिष्ठापाठ के परिशिष्ट में वास्तुबलि विधान नामक एक प्रकरण छपा है, वह न मालूम नेमिचन्द्र कृत है या अन्य कृत? उसमें वास्तुदेवों के नाम इस प्रकार लिखे हैं-

'आर्य, विवस्वत्, मित्र, भूधर, सविद्र, साविद्र, इन्द्रराज, रुद्र, रुद्रराज, आप, आपवत्स, पर्जन्य, जयंत, भास्कर, सत्यक, भृशुदेव, अंतरिक्ष, पूषा, वितथ, राक्षस, गंधर्व, भृंगराज, मृषदेव, दौवारिक, सुग्रीव, पुष्पदंत, असुर, शोष, रोग, नाग, मुख्य, भल्लाट, मृग, आदिति, उदिति, विचारि, पूतना, पापराक्षसी और चरकी' ये 40 नाम हैं।'

वास्तुदेवों के इसी तरह के नाम जैनेतर ग्रन्थों में लिखे मिलते हैं (देखो सर्वदेव प्रतिष्ठा प्रकाश व वास्तु विद्या के अजैन ग्रन्थ) वहाँ से हमारे यहाँ आये हैं। वे भी आशाधर के बाद के क्रिया-कांडी ग्रन्थों में पुन्याहवाचन पाठों में। यह बलि विधान इसी रूप में आशाधर पूजा-पाठ नाम की पुस्तक में भी छपा है। वहाँ दस दिग्पालों को भी वास्तुदेवों में गिना है। जैनेतर ग्रन्थों में ऐसा नहीं है।

एक संधि जिन संहिता में भी वास्तुदेव बलि विधान नामक 24वाँ परिच्छेद है जिसमें भी उक्त 40 नामों के साथ दस दिग्पालों के नाम हैं। ऐसा मालूम होता है कि वास्तुदेवों को बलि देने के पहिले दिग्पालों का बलिविधान लिखा हो और लगते ही वास्तुदेवों को बलि देने का कथन किया हो, इस तरह से भी वास्तुदेवों में दिग्पाल देव शामिल हो सकते हैं। अन्य मत में वास्तुदेवों को बलि देने की सामग्री में मधु-मांस आदि हैं। जैन मत में मांस को सामग्री में नहीं लिया है, तथापि मधु को तो लिया ही है।

एक संधि संहिता के उक्त परिच्छेद के 17वें श्लोक में मजेदार बात यह लिखी है -बलि देते वक्त बलि द्रव्यों को लिये हुए आभूषणों से भूषित कोई कन्या या वेश्या अथवा कोई मदमाती स्त्री होनी चाहिए। यथा-

बलिप्रदानकाले तु योग्या स्याद् बलिधारणे।

भूषिता कन्यका वा स्याद् वेश्या वा मत्तकामिनी॥17॥

ऐसा कथन नेमिचन्द्र प्रतिष्ठा पाठ में छपे इस प्रकरण के पृष्ठ 4 के श्लोक 11 से भी प्रतिभासित होता है।

जिन शास्त्रों में साफ तौर पर अन्य मत के माने हुए देवों की आराधना का कथन किया है और उनकी आराधना विधि में ऐसी वाहियात बातें वेश्या आदि की लिखी है, उन शास्त्रों को हम केवल यह देखकर जिनवाणी मानते रहें कि वे संस्कृत प्राकृत में लिखे हैं और किन्हीं जैन नामधारी बड़े विद्वान के रचे हुए हैं, जब तक हम

में यह आगममूढ़ता बनी रहेगी तब तक हम जैन धर्म का उज्ज्वल रूप नहीं पा सकेंगे। इन मिथ्या देवों का ऐसा कुछ जाल छाया हुआ है कि पंडित लोग भी इनके दुर्मोह से ग्रसित हैं। शुद्धाम्नायी पं. शिवजीराम जी राँची वालों का लिखा एक प्रतिष्ठा ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है, जिसमें इन सभी वास्तुदेवों की उपासना का वर्णन किया है। बलिहारी है उनके शुद्धाम्नाय की।

वास्तुदेवों के जो नाम जैन ग्रन्थों में लिखे मिलते हैं उनकी अन्यमत के नामों से कहीं-कहीं भिन्नता भी है। जैसे अन्य मत के नाम अर्यमा, सवितृ, सावित्र, शेष, दिति, विदारि हैं। इनके स्थान में जैनमत के नाम क्रम से ये हैं- आर्य, सविंद्र, साविंद्र, शेष, उदिति और विचारि। इन नामों में थोड़ा-सा ही अक्षर भेद है। यह भेद लिखने-पढ़ने की गलती से भी हो सकता है। कुछ नामभेद शायद इस कारण से भी किये हों कि उनमें स्पष्टतः अजैनत्व झलकता है। जैसे अर्यमा का आर्य, शेष का शेष, दिति का उदिति बनाया गया है, क्योंकि अन्यमत में अर्यमा का अर्थ पितरों का राजा, शेष का अर्थ शेष-नाग, दिति का अर्थ दैत्यों की माता होता है। सविंद्र और साविंद्र शब्दों का कुछ अर्थ समझ नहीं पड़ता है, जरूर ये शुद्ध शब्द सवितृ और सावित्र के बिगड़े रूप हैं। इसी तरह शुद्ध शब्द विदारि का गलती से विचारि लिखा पढ़ा गया है।

वास्तुदेवों के नामों में रुद्र, जयंत (यह नाम इन्द्र के पुत्र का है) और अदिति (यह देवों की माता का नाम है) ये नाम दोनों ही मतों के नामों में हैं। परन्तु मूल में ये नाम साफ तौर पर ब्राह्मण मत के मालूम होते हैं। जैन मान्यता के अनुसार इन्द्र का पुत्र और देवों की माता का कथन बनता नहीं है। जैनमत में देवों के माता पिता होते ही नहीं हैं, न रुद्र ही कोई उपास्य देव माना गया है।

भगवान् महावीर ने ब्राह्मणमत की फैली हुई जिन मिथ्या रूढ़ियों का जबरदस्त भंडाफोड़ किया था, खेद है उनके शासन में ही आगे चलकर वे रूढ़ियाँ प्रवेश कर गई हैं।

जैन निबन्ध रत्नावली (द्वितीय भाग)
से साभार

तू सूरज परभात का, ये सूरज है साँझ

डॉ. विमला जैन 'विमल'

शुचि शिक्षालय वृद्धजन, सतत देत हैं सीख,
वृद्ध देख हसना नहीं, भावी रूप स्व दीख।
देख वृद्ध की झुर्रियाँ, अनुभव अक्षर वाँच,
तू सूरज परभात का, ये सूरज है साँझ।

सूर्य ढले, दीपक बुझे, जीवन के संग मृत्यु,
पीत होत पत्ता गिरे, जग परिवर्तन मृत्यु।
जगत परीक्षा भवन है, मिले हैं घन्टे तीन,
बाल, युवा, अरु वृद्ध वय, कर्म पुस्तिका लीन।

ईश परीक्षक जगत का उत्तर कर्म सुवास,
पाप-पुण्य पे अंक दे, फेल होय या पास।
फेल हुये गति नीच है, सुर नर गति हो पास,
कर पुरुषारथ विमल मन, मुक्ति मिलन की आस।

धर्म में धन्धा घुस गया, धन्धे से गया धर्म,
यही पतन का पन्थ है, समझ कर्म का मर्म।
दान-पुण्य चुपचाप कर मती मचावे शोर,
पुण्य छिपाये से बढ़े घट जाता सुन शोर।

धर्म और धन औषधि, जीवन व्याधि है मूल,
धर्म पिलाने की दवा, धन मलहम सा शूल।
पर उल्टा करता मनुज, धन को समझा सूप,
धर्म दिखाते ऊपरी, होय व्याधि विद्रूप।

हाय! विचारा चल बसा, बोला अर्थी देख,
कल तेरी भी गति यही, आज अभी सत वेख।
पौ जन्मा, प्रातः शिशु, युवा दुपहरी होय,
साँझ बुढ़ापा, मृत्यु निश, जीवन दिन सा होय।

शक्ति सम्पत्ति, बुद्धि का, करना उचित प्रयोग,
कौरव, रावण पतन प्रिय, कृष्ण-राम सत योग।
हर दिन होता जन्म है, हर निश होती मौत,
'विमल' शुभाशुभ कर्म का प्रतिदिन होता ब्यौत।

सम्पादक - जैन महिलादर्श
रीडर व अध्यक्ष, ललित कला विभाग
म.गा.बा.वि.पी.जी. कालेज, फिरोजाबाद

वनवासी और चैत्यवासी

स्व. पं. नाथूरामजी प्रेमी

सत्य, अहिंसा, मैत्री और अनेकान्त जैसे समन्वयकारी सिद्धान्त के प्रचारक जैनधर्म में भी अब तक अनेक सम्प्रदायों और पन्थों की सृष्टि हो चुकी है जिनमें से बहुतों का तो अस्तित्व बना हुआ है और बहुत से काल के गाल में विलीन हो चुके हैं।

जैन धर्म के अनुयायी मुख्यतः दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों में बँटे हुए हैं। ये भेद शुरू में निर्वस्त्रता और सवस्त्रता को लेकर हुए थे और इसी के कारण आगे चलकर इनमें स्त्रीमुक्ति, केवलिभुक्ति आदि की मान्यताओं को लेकर और भी अनेक छोटी मोटी बातों में मतभिन्नता आ गई है, फिर भी मूल सिद्धान्तों में दोनों एक हैं।

इन दोनों में भी अनेक शाखा - प्रशाखायें हुई हैं, परन्तु यहाँ उनकी चर्चा अभीष्ट नहीं है। इस लेख में केवल ऐसी दो शाखाओं की चर्चा की जाती है जो दोनों ही सम्प्रदायों में बहुत समय से चली आ रही हैं और जिन्हें हम वनवासी और चैत्यवासी कहते हैं। चैत्यवासी ही मठवासी हैं।

श्वेताम्बरों में जो 'जती' या 'श्रीपूज्य' कहलाते हैं वे चैत्यवासी या मठवासी शाखा के अवशेष हैं और जो 'संवेगी' कहलाते हैं वे वनवासी शाखा के। संवेगी अपने को सुविहित मार्ग या विधिमार्ग का अनुयायी कहते हैं। इसी तरह दिगम्बरों के भट्टारक मठवासी और नग्न मुनि वनवासी शाखा के अवशेष हैं।

भट्टारकों और जतियों का आचरण लगभग एक सा है। यद्यपि ये दोनों ही निर्ग्रन्थता और अपरिग्रहता का दावा करते हैं और अपने को वीतराग मार्ग का ही अनुयायी बतलाते हैं।

दिगम्बर, श्वेताम्बर दोनों शाखाओं के साधु निर्ग्रन्थ कहलाते हैं और निर्ग्रन्थ का अर्थ है सब प्रकार के परिग्रहों से रहित। यद्यपि श्वेताम्बर सम्प्रदाय में साधुओं को लज्जानिवारण के लिये बहुत ही सादा वस्त्र रखने की छूट दी गई है। परन्तु जिन शर्तों के साथ दी गई है वह न देने के ही बराबर है। वास्तव में अशक्ति या लाचारी में ही वस्त्र का उपयोग करने की आज्ञा है। ऐसा मालूम होता है कि विक्रम की छठी सातवीं शताब्दी तक तो श्वेताम्बर साधु भी कारण पड़ने पर ही वस्त्र धारण करते थे और सो भी कटिवस्त्र। यदि कटिवस्त्र भी निष्कारण धारण किया जाता था तो धारण करने वाले को कुसाधु समझा जाता था।

हरिभद्र ने 'संबोध प्रकरण' में अपने समय के कुसाधुओं का वर्णन करते हुए लिखा है कि वे केशलोच नहीं करते, प्रतिमावहन करते शरमाते हैं, शरीर पर का मैल उतारते हैं, पादुकायें पहिनकर फिरते हैं और बिना कारण कटिवस्त्र बाँधते हैं।²

लगभग 40-50 वर्ष पहले के श्वेताम्बर साधु जब अपने उपाश्रयों में बैठे होते थे तब शरीर के अधोभाग पर एक वस्त्रखंड डाले

भगवान महावीर के निर्वाण के कुछ ही वर्षों बाद (अन्तिम अनुबद्ध केवली जम्बूस्वामी के निर्वाण के अनन्तर) उनका मूल निर्ग्रन्थ संघ श्वेताम्बर और दिगम्बर इन दो शाखाओं में विभाजित हो गया। कालान्तर में इन दोनों सम्प्रदायों में शिथिलाचार ने इतना अधिक जोर पकड़ा कि दोनों में पुनः वनवासियों और चैत्यवासियों के रूप में दो-दो वर्ग बन गये। उनकी प्रवृत्तियाँ कैसी थीं और उन्होंने जिनशासन को किस प्रकार भ्रष्ट किया इसका ऐतिहासिक विवरण प्रस्तुत लेख में दिया गया है। इसे हम तीन किशतों में प्रकाशित कर रहे हैं। पहली किशत पेश है।

रहते थे- उसे बाँधते तक न थे। बाहर जाने के समय ही वे कटिवस्त्र धारण करते थे।

दिगम्बर-श्वेताम्बर के सिवाय एक तीसरा सम्प्रदाय यापनीय नाम का था जो अब नामशेष हो चुका है। इसके साधु दिगम्बरों के ही समान नग्न रहते थे और पाणिपात्र-भोजी थे पर इनमें भी वस्त्र को अपवाद रूप से ही ग्रहण करने की आज्ञा थी।

वस्त्र-पात्र के सिवाय दिगम्बर-श्वेताम्बर साधुओं के आचार में और कोई विशेष अन्तर नहीं है। दोनों के आचार-ग्रन्थों में कहा है कि मुनियों को बस्ती से बाहर उद्यानों या शून्य गृहों में रहना चाहिए, अनुद्दिष्ट भोजन करना चाहिए, धर्मोपकरणों के अतिरिक्त अन्य सब प्रकार के परिग्रहों से दूर रहना चाहिए, जमीन पर सोना चाहिए, पैदल विहार करना चाहिए और शान्ति से ध्यानध्ययन में अपना समय बिताना चाहिए।

यह कहना तो कठिन है कि किसी समय सबके सब साधु आगमोपदिष्ट आचारों का पूर्ण रूप से पालन करते होंगे, फिर भी शुरू में दोनों ही शाखाओं के साधुओं में आगमोक्त आचारों के पालन का अधिक से अधिक आग्रह रहा होगा। परन्तु ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, साधुओं की संख्या बढ़ती गई और भिन्न-भिन्न आचार-विचार वाले विभिन्न देशों में फैलती गई, धनियों और राजाओं द्वारा पूजा-प्रतिष्ठा पाती गई, श्रावकों में भक्ति और दोषों की उपेक्षा बढ़ती गई, त्यों-त्यों उसमें शिथिलता आती गई और दोनों ही सम्प्रदायों में शिथिलाचारी साधुओं की संख्या बढ़ती गई। मालूम होता है बहुत प्राचीन काल में ही इनकी जड़ें जम गई थीं।

श्वेताम्बर चैत्यवासी - धर्मसागर अपनी पट्टावली में लिखते हैं कि वीरसंवत् 882 में चैत्यवास शुरू हुआ- 'वीरात् 882 चैत्यस्थितिः' परन्तु मुनि कल्याणविजय आदि विद्वानों का खयाल है कि इससे भी पहले इसकी जड़ जम गई थी और 882 वी.नि. तक तो इसकी सार्वत्रिक प्रवृत्ति हो गई थी।

दार्शनिक हरिभद्र (विक्रम की आठवीं शताब्दी) 'संबोधप्रकरण'³ में लिखते हैं- 'ये कुसाधु चैत्यों और मठों में रहते हैं, पूजा करने का आरम्भ करते हैं, देव-द्रव्य का उपभोग करते हैं, जिनमन्दिर और शालायें चिनवाते हैं, रंग-बिरंगे सुगन्धित धूपवासित वस्त्र पहिनते हैं, बिना नाथ के बैलों के सदृश स्त्रियों के आगे गाते हैं, आर्यिकाओं द्वारा लाये गये पदार्थ खाते हैं और तरह तरह के उपकरण रखते हैं। जल, फल, फूल आदि सचित्त द्रव्यों का उपभोग करते हैं, दो तीन बार भोजन करते और ताम्बूल लवंगादि भी खाते हैं।

'ये मुहूर्त निकालते हैं, निमित्त बतलाते हैं, भभूत भी देते हैं। ज्योनारों में मिष्ट आहार प्राप्त करते हैं, आहार के लिए खुशामद करते

और पूछने पर भी सत्य धर्म नहीं बतलाते।’

‘स्वयं भ्रष्ट होते हुए भी दूसरों से आलोचना-प्रतिक्रमण करते हैं। स्नान करते, तेल लगाते, शृंगार करते और इत्र फुलेल का उपयोग करते हैं।’

‘अपने हीनाचारी मृतक गुरुओं की दाह-भूमि पर स्तूप बनवाते हैं। स्त्रियों के समक्ष व्याख्यान देते हैं और स्त्रियाँ उनके गुणों के गीत गाती हैं।’

‘सारी रात सोते, क्रय-विक्रय करते और प्रवचन के बहाने विकथायें किया करते हैं।’

‘चेला बनाने के लिये छोटे-छोटे बच्चों को खरीदते, भोले लोगों को ठगते और जिन प्रतिमाओं को भी बेचते खरीदते हैं।’

‘उच्चाटण करते और वैद्यक, यंत्र, मंत्र, गंडा, ताबीज आदि में कुशल होते हैं।’

‘ये श्रावकों को सुविहित साधुओं के पास जाते हुए रोकते हैं, शाप देने का भय दिखाते हैं, परस्पर विरोध रखते हैं और चेलों के लिये एक दूसरे से लड़ मरते हैं।’

जो लोग इन भ्रष्ट-चरित्रों को भी मुनि मानते थे, उनको लक्ष्य करके हरिभद्र कहते हैं, ‘कुछ नासमझ लोग कहते हैं कि यह तीर्थंकरों का वेष है, इसे भी नमस्कार करना चाहिए। अहो, धिक्कार हो इन्हें। मैं अपने सिर के शूल की पुकार किसके आगे जाकर करूँ?’⁴

जिनवल्लभकृत संघपट्टक की भूमिका में श्वेताम्बर चैत्यवास का इतिहास

‘वी. नि. 850 के लगभग कुछ मुनियों ने उग्र विहार छोड़कर मन्दिरों में रहना प्रारंभ कर दिया। धीरे-धीरे इनकी संख्या बढ़ती गई और समयान्तर में ये बहुत प्रबल हो गये। इन्होंने ‘निगम’ नाम के कुछ ग्रन्थ रचे और उन्हें ‘दृष्टिवाद’ नामक बारहवें अंग का एक अंश बतलाया। उनमें यह प्रतिपादन किया गया कि वर्तमान काल के मुनियों को चैत्यों में रहना उचित है⁵ और उन्हें पुस्तकादि के लिये यथायोग्य आवश्यक द्रव्य भी संग्रह करके रखना चाहिए साथ ही ये वनवासियों की निन्दा करने लगे और अपना बल बढ़ाने लगे।’

‘वि.सं. 802 में अणहिलपुर पट्टण के राजा वनराज चावड़ा से उनके गुरु शीलगुणसूरिने जो चैत्यवासी थे यह आज्ञा जारी करा दी कि इस नगर में चैत्यवासी साधुओं को छोड़कर दूसरे वनवासी साधु न आ सकेंगे।’

‘इस अनुचित आज्ञा को रद्द कराने के लिये वि.सं. 1074 में जिनेश्वर और बुद्धिसागर नाम के दो विधिमार्गी विद्वानों ने राजा दुर्लभदेव की सभा में चैत्यवासियों के साथ शास्त्रार्थ करके उन्हें पराजित किया और तब कहीं पाटण में विधिमार्गियों का प्रवेश हो सका।’

‘मारवाड़ में भी चैत्यवासियों का बहुत प्राबल्य था। उसके विरुद्ध सबसे अधिक प्रयत्न पूर्वोक्त जिनेश्वर के शिष्य जिनवल्लभ ने किये। अपने संघपट्टक में उन्होंने चैत्यवासियों के शिथिलाचार का और सूत्र-विरुद्ध प्रवृत्ति का अच्छा खाका खींचा है।’

‘चित्तौड़ के श्रावकों ने महावीर भगवान का एक मंदिर बनाकर उसके गर्भ गृह के द्वार के एक स्तम्भ पर उक्त संघपट्टक के चालीसों पद्य खुदवा दिये हैं जो आज तक उनकी कीर्ति को प्रकट कर रहे हैं। जिनवल्लभ का यह प्रयत्न चैत्यवासियों को असह्य हुआ। कहा जाता है कि वे पाँच सौ लठैतों के साथ उक्त मन्दिर पर चढ़ आये, परन्तु तत्कालीन महाराणा ने उन्हें इस अपकृत्य से रोक दिया।’

‘जिनवल्लभ के बाद जिनदत्त और जिनपति ने भी अपने

सुविहित मार्ग का प्रचार-कार्य जारी रखा। जिनपति ने संघपट्टक पर एक हजार तीन श्लोक प्रमाण टीका लिखकर उसका खूब प्रचार किया और उनके गृहस्थ शिष्य नेमिचन्द्र भंडारी ने षष्ठिशतक⁶ नामक प्राकृत ग्रन्थ रचकर चैत्यवासियों के शिथिलाचार का विरोध किया। इसी तरह गुजरात में भी मुनिचन्द्र, मुनिसुन्दर आदि ने अपनी रचनाओं और उपदेशों से चैत्यवासियों को हतप्रभ कर दिया।⁷

दिगम्बर चैत्यवासी

दिगम्बर साहित्य में ऐसा कोई स्पष्ट उल्लेख तो नहीं मिलता जिसमें चैत्यवास के प्रारंभ की कोई तिथि बतलाई गई हो और न चैत्यवास नाम के किसी पृथक संगठन या सम्प्रदाय का ही कोई उल्लेख मिलता है, फिर भी यह निश्चित है कि वह था और बहुत पुराने समय से था। हमारे भट्टारकों की गदियाँ उसी की प्रतिनिधि है।

दिगम्बर चर्या इतनी उग्र और कठोर है कि हमारे खयाल में नग्न साधुओं की संख्या हमेशा कम रही है और पिछले कई सौ वर्षों से तो वे क्वचित् ही दिखाई देते रहे हैं। शायद इसी कारण चैत्यवासियों के समान उनका कोई स्वतंत्र संघटन नहीं हो सका और न एक पृथक् दल के रूप में प्राचीन साहित्य में उनका स्पष्ट उल्लेख ही हुआ। कुन्दकुन्द के ‘लिंग पाहुड़’ से पता लगता है कि उस समय भी ऐसे जैन साधु थे जो गृहस्थों के विवाह जुटाते थे, कृषिकर्म-वाणिज्यरूप हिंसा कर्म करते थे- ‘जो जोडेदि विवाहं किसिकम्मवणिज्ज-जीवघादं च’ और जिनेन्द्र का लिंग धारण करके उसका उपहास कराते थे - ‘लिंगं घेतूण जिणवरिदाणं, उवहसइ लिंगिभावं।’

लिंगपाहुड़ की ही और दूसरी गाथाओं से ऐसा मालूम होता है कि ग्रन्थकर्ता के आसपास चैत्यवासी श्रमण बहुत थे और वे उनको सत्पथ पर लाना चाहते थे। ऐसे साधुओं के विषय में उन्होंने स्पष्ट कहा है कि वे पशु हैं, श्रमण नहीं - ‘तिरिक्खजोणी ण सो समणो।’

विक्रम की सत्रहवीं सदी में पं. बनारसीदास ने जिस शुद्धाम्नाय का प्रचार किया और जो आगे चलकर तेरह पन्थ के नाम से विख्यात हुआ, वह इन भट्टारकों या चैत्यवासियों के ही विरोध का एक रूप था और उसने दिगम्बर सम्प्रदाय में वही काम किया जो श्वेताम्बर सम्प्रदाय में विधि-मार्ग ने किया था। तेरह पन्थ ने चैत्यवासी भट्टारकों की प्रतिष्ठा को जड़ से उखाड़ दिया।

हमारा अनुमान है कि इस तरह के प्रयत्न बनारसीदास से पहले भी कई बार हुए होंगे, जिनके स्पष्ट उल्लेख तो नहीं मिलते परन्तु प्रयत्न करके खोजे जा सकते हैं।

संदर्भ सूची

1. आचारांग प्र.श्रु., अध्ययन 6, उद्देश्य 3 और द्वि. श्रुतस्कन्ध अध्ययन 14 उद्देश्य 1-2।
2. कीवो न कुणइ लोयं लज्जइ पडिमाइ जल्लमुवणेई। सोबाहणो य हिंडइ, बंधइ कटिपट्टयमकज्जे॥14
3. अहमदाबाद की जैन-ग्रन्थ-प्रकाशक-सभाद्वारा वि.स. 1972 में प्रकाशित।
4. बाला वंयति एवं वेसो तित्थंकरण एसो वि। णमणिज्जो धिद्धी अहो सिरसूलं कस्स पुक्करिमो॥76॥
5. शिवकोटि के नाम से प्रसिद्ध की गई ‘रत्नमाला’ में भी लिखा है - कलौ काले वने वासो वज्यते मुनिसत्तमैः। स्थीयते च जिनागारे ग्रामादिषु विशेषतः॥22॥
6. जैनहितेषी भाग 11, अंक 12।
7. श्री अगरचन्द्र नाहटा का लेख ‘यतिसमाज’ (अनेकान्त वर्ष 3, अंक 8-9) में श्वेताम्बर चैत्यवासियों पर विस्तृत प्रकाश डाला है।

जैन साहित्य और इतिहास (संशोधित संस्करण) से साभार

शंका-समाधान

पं. रतनलाल बैनाडा

शंकाकार - श्री एस.पी. वैद्य, मलकापुर

शंका - द्रव्यस्त्री को क्षायिक सम्यक्त्व हो सकता है या नहीं? जबकि जीवकाण्ड की केशववर्णी टीका में, स्त्रियों के क्षायिक सम्यक्त्व कहा गया है।

समाधान - श्रीकेशववर्णी का उपर्युक्त मत किसी भी अन्य आचार्य को स्वीकृत नहीं है। तत्त्वार्थसूत्र की राजवार्तिक टीका अध्याय 9 सूत्र 7 ज्ञानपीठ प्रकाशन पृ. 606 में इस प्रकार लिखा है।

'मनुष्यस्य क्षपणामारब्धवतः पुरुषलिङ्गे नेवेवृत्तेः।' अर्थ-क्षपणा का आरम्भ करने वाला पुरुषलिङ्गी मनुष्य ही होता है।

सर्वार्थसिद्धि में आचार्य पूज्यपाद अ.1 सूत्र-7 की टीका में इस प्रकार लिखते हैं कि - द्रव्यवेदस्त्रीणां तासां क्षायिकासंभवात्। अर्थ-द्रव्यस्त्रियों के क्षायिक सम्यक्त्व संभव नहीं।

सत्कर्म पंजिका पृ. 79 पर आचार्य ने इस प्रकार लिखा है कि - 'तं खवडं सती एदेसिं संहडणाणं उदयसहित जीवाणं णत्थि ति अभिप्यादो।' अर्थ- 'वज्रनाराच आदि पाँच संहननों से सहित जीवों के दर्शनमोह क्षपण करने की शक्ति नहीं है।'

इससे स्पष्ट है कि केवल प्रथम संहनन वाले जीव के ही दर्शनमोह के क्षपण करने की शक्ति है। द्रव्यस्त्री के अंतिम तीन संहनन होते हैं, अतः उनके दर्शनमोह के क्षपण करने की शक्ति नहीं होती है।

उपर्युक्त प्रमाणों से यह स्पष्ट है कि द्रव्यस्त्री के क्षायिक सम्यक्त्व नहीं होता।

शंका- क्या द्रव्यलिङ्गी साधु के मात्र पहला ही गुणस्थान माना जावे या अन्य भी?

समाधान- छोटेगुणस्थानवर्ती या इससे ऊपर वाले मुनिराजों को ही भावलिङ्गी साधु माना जाता है। त्रिलोकसार गाथा 545 में इस प्रकार कहा है-

परतरिय देसअयदा उक्कस्सेणच्चुदोत्ति णिगंगंथा।

ण य अदय देसमिच्छा गेवेज्जंतोत्ति गच्छंति॥545॥

टीका... द्रव्यनिर्ग्रन्था नरा भावेनासंयता देशसंयताः मिथ्या-दृष्टयो वा उपरिमग्रैवेयकपर्यन्तं गच्छन्ति। अर्थ- 'द्रव्य से निर्ग्रन्थ और भाव से असंयत, देशसंयत, तथा मिथ्यादृष्टि मुनि अंतिम ग्रैवेयक पर्यन्त जाते हैं। अर्थात् जो द्रव्यलिङ्गी साधु हैं, अर्थात् जिन साधुओं के संज्वलन के अलावा अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण या प्रत्याख्यानावरणकषाय का उदय विद्यमान है, जिसके कारण उनके पहले से पाँचवें तक कोई भी गुणस्थान है, वे मुनि अंतिम ग्रैवेयक पर्यन्त जाते हैं। अनुदिश और अनुत्तर में भावलिङ्गी साधु का ही जन्म होता है।

शंकाकार - सतेन्द्रकुमार जैन, रेवाड़ी।

शंका- आभियोग्य जाति के देव सूर्य चंद्रमा आदि विमानों को ढोते हैं, क्या उनको कष्ट या दुःख नहीं होता? क्या वैमानिक देवों के विमानों को अन्य देव वहन करते हैं। स्पष्ट करें।

समाधान- जो आभियोग्य जाति के देव विमानों को ढोते हैं, उनका मूल शरीर तो विमानों में ही रहता है। यह तो उनकी विक्रिया है। ज्योतिषी देवों में इन्द्र सामानिक आदि दस भेदों में, त्रयस्त्रिंश व लोकपाल को छोड़कर शेष आठ भेद पाये जाते हैं। उनमें आभियोग्य जाति के ज्योतिषी देव, सूर्य, चन्द्र आदि के विमानों को ढोने का कार्य करते हैं। विमानों को ढोने में इन देवों को शारीरिक कष्ट तो कम होता है, पर पराधीनतारूप मानसिक कष्ट बहुत होता है।

वैमानिक देवों के मूल विमान तो स्थिर ही रहते हैं। पर जब कभी वैमानिक देवों को जाना होता है, तब उनकी आज्ञा से आभियोग्य जाति के देवों को पक्षी आदि का रूप धरकर, विमान रूप बनकर, वहन करने का काम करना ही पड़ता है। ऐसा कष्ट भवनवासी और व्यंतर देवों में भी पाया जाता है। यथार्थ में आभियोग्य जाति के देवों का कर्म विपाक इसी प्रकार फलरूप होता है।

शंका - जिस प्रकार मोक्ष प्राप्ति के लिये प्रथम संहनन आवश्यक है, क्या उसी प्रकार प्रथम समचतुरस्र संस्थान भी आवश्यक है?

समाधान - तेरहवें गुणस्थान में प्रथम वज्रवृषभनाराच संहनन तो होना ही चाहिए, अन्यथा मोक्ष प्राप्ति की योग्यता नहीं बनती, लेकिन तेरहवें गुणस्थान में छहों संस्थान का उदय पाया जाता है। (देखें - कर्मकाण्ड-टीका आर्यिका आदिमतिमाताजी पृ. 237) अर्थात् छहों संस्थानों में से किसी भी एक संस्थान के उदय वाले जीव के तेरहवाँ गुणस्थान संभव है।

शंकाकार- राजेन्द्र कुमार जैन, अजमेर

यदि ऐसा विकल्प किया जाए कि हुण्डक संस्थान वालों को दीक्षा कैसे मिलती होगी, तो इसका उत्तर है कि जिन पुरुषों के हुण्डक संस्थान का उदय अति मंद अनुभाग वाला हो और जो हुण्डक संस्थान शरीर दखने में स्पष्ट नहीं झलकता हो उनको दीक्षा मिलने में क्या आपत्ति हो सकती है। अर्थात् कुछ नहीं।

शंका - यदि कोई शिथिलाचारी मुनि, जिनका आचरण आगम के विपरीत स्पष्ट दिख रहा हो, अपने शहर में आ जावे तो श्रावकों को कैसा व्यवहार करना चाहिए?

समाधान - इसी प्रकार का प्रश्न चारित्र च. ग्रन्थ के तीर्थटन अ. में पृ. 126 पर चा.च.आ. शान्तिसागर जी महाराज से किया गया था वह यह है -

'शिथिलाचरण वाले साधु के प्रति समाज को या समझदार व्यक्ति को कैसा व्यवहार रखना चाहिए? महाराज ने कहा कि ऐसे साधु को एकान्त में समझाना चाहिए। उसका स्थितिकरण करना चाहिए। पुनः प्रश्न-समझाने पर भी यदि उस मुनि की प्रवृत्ति न बदले तब क्या कर्तव्य है? क्या समाचार पत्रों में उसके संबंध में समाचार छपाना चाहिए या नहीं? महाराज का उत्तर-समझाने से भी काम न चले तो उसकी उपेक्षा करो, उपगूहन अंग का पालन करो। पत्रों में चर्चा चलने से धर्म की हसी होने के साथ-साथ अन्य मार्गस्थ साधुओं

के लिये भी अज्ञानी लोगों द्वारा बाधा उपस्थित की जाती है।

उपर्युक्त प्रश्नोत्तर में उपेक्षा शब्द अत्यंत महत्वपूर्ण है। समस्त साधर्मि भाइयों को इस उपेक्षा शब्द को ध्यान में रखकर व्यवहार करना उपयुक्त है।

और भी कहते हैं-

जहजायरूवसरिसो तिलतुसमित्तं ण गिहदि हत्थेसु।

जइ लेइ अप्पबहुयं तत्तो पुण जाइ णिग्गोदं सूत्रपाहुइ॥18॥

गाथार्थ - नग्न मुद्रा के धारक मुनि तिलतुष मात्र भी परिग्रह अपने हाथों में ग्रहण नहीं करते। यदि थोड़ा बहुत ग्रहण करते हैं तो

निगोद जाते हैं।

जे पावमोहियमई लिंगं तूण जिणवरिदाणं।

पावं कुणंति पावा ते चत्ता मोक्खमग्गम्मि मोक्षपाहुइ॥78॥

गाथार्थ - जो पाप से मोहित बुद्धि मनुष्य, जिनेन्द्रदेव का लिंग धारण कर पाप करते हैं वे पापी मोक्षमार्ग से पतित हैं।

उपर्युक्त आगम प्रमाणों को व अष्टपाहुइ आदि ग्रन्थों के द्वारा शिथिलाचारी साधुओं की वंदना, नमस्कार आदि से होने वाले दोषों को समझकर आगम के अनुसार प्रवृत्ति करना योग्य है।

1/205, प्रोफेसर्स कालोनी,
आगरा-282002, उ.प्र.

अ.भा. श्री दिगम्बर जैन ज्ञानोदय तीर्थक्षेत्र

ज्ञानोदय नगर, नारेली, अजमेर (राज.)

अजमेर, 30 सितम्बर 2001। श्री दिगम्बर जैन ज्ञानोदय तीर्थ क्षेत्र नारेली, अजमेर के आदिनाथ जिनालय के विशाल ज्ञानोदय सभागार में आज वार्षिक जिनाभिषेक का भव्य कार्यक्रम बड़े उत्साह एवं हर्षोल्लास के साथ आठ हजार से अधिक धर्मप्रेमी बन्धुओं के बीच पूरे भक्ति भाव के साथ सम्पन्न हुआ। दर्शनार्थियों के विशाल जनसमूह के कारण आज यह विशाल सभागार भी छोटा पड़ गया। केसरगंज, अजमेर के सर्वश्री ताराचन्द्र दिलीपकुमार पाण्डया, श्री रमेशचन्द्र सुरेश चन्द्र पाण्डया, श्री विमलचन्द्र अजितकुमार जैन तथा सीकर के श्री धर्मचन्द्र विद्याकुमार दीवान ने क्रमशः श्री शान्तिनाथ भगवान के कलश करने का सौभाग्य अर्जित किया।

इस समारोह में भाग लेने के लिये अजमेर नगर के अलावा नसीराबाद, जैठाना, मांगलियावास, छोटा लाम्बा, वीर, भवानीखेड़ा, मदनगंज-किशनगढ़ एवं अन्य समीपस्थ ग्रामों के चार हजार से अधिक आबालवृद्ध पुरुष, महिला पदयात्रा करते हुए एवं मार्ग में जय-जयकार करते हुए क्षेत्र पर पधारे। पुरुषगण सफेद वस्त्रों में एवं महिलाएँ केसरिया वस्त्रों में सुसज्जित थे। इसी श्रृंखला में अजमेर नगर के करीब दो हजार पदयात्री जुलूस रूप में बैड बाजें के साथ चल रहे थे और जीप में मुनि श्री सुधासागर जी महाराज का भव्य चित्र सुशोभित था। जुलूस का शुभारंभ सोनी जी की नसियां से प्रातः साढ़े पाँच बजे सर्वश्री त्रिलोकचन्द्र, संजयकुमार, राजेश कुमार सोनी परिवार द्वारा हरी झण्डी दिखाकर किया गया, जो नगर के विभिन्न मार्गों से होते हुए क्षेत्र के सिंहद्वार पर पहुँचे। मार्ग में नया बाजार, गोल प्याऊ, मदार गेट, पार्श्वनाथ मंदिर केसरगंज, पाल बिचला, गांधी नगर, पार्श्वनाथ मंदिर नाका मदार, नेहरूनगर आदि स्थानों पर इनका दूध, अल्पाहार, फल फ्रूट, माल्यार्पण द्वारा सम्मान किया गया। क्षेत्र के सिंहद्वार पर सभी स्थानों से पधारे हुए पदयात्रियों एवं दर्शनार्थियों का तिलक लगाकर सम्मान किया गया। सभी के लिए क्षेत्र पर नाश्ते की सुन्दर व्यवस्था की गई। इसके बाद वार्षिक कलशाभिषेक के बाद सुन्दर वात्सल्य भोज की व्यवस्था मै. आर.के. मार्बल लि. मदनगंज की तरफ से की गई थी।

प्रातः 8.00 बजे 'श्री कल्याण मंदिर विधान पूजन' का आयोजन श्रीमती मनोरमा देवी मातुश्री संजयकुमार विजयकुमार

महतिया, संजय स्टील्स परिवार की ओर से आयोजित थी। जिसमें सैकड़ों महिलाओं व पुरुषों ने भाग लेकर अपना जीवन सार्थक किया।

क्षेत्र के अध्यक्ष श्री भागचन्द्र गदिया ने सभी आगन्तुकों का सम्मान करते हुए क्षेत्र के विषय में विस्तृत जानकारी प्रदान की, सभा का संचालन करते हुए डॉ. ओ.पी. जैन ने बतलाया कि क्षेत्र पर स्थित गौशाला में चार सौ पच्चीस गायें हैं जिनके भोजन, पानी की सुव्यवस्था यहाँ की गई है। त्रिकाल चौबीसी के चार मंदिर, सन्तशाला, एक धर्मशाला, सहस्रकूट जिनालय पूर्ण हो चुके हैं। सोलह त्रिकाल चौबीसी जिनालय, त्रिमूर्ति जिनालय, आर्थिका वसतिका, दूसरी धर्मशाला शीघ्र ही पूर्ण होने वाली है। शेष जिनालय, हॉस्पिटल, स्कूल आदि भी निर्माणाधीन हैं। आदिनाथ जिनालय में जैन विश्व की सबसे बड़ी पद्मासन प्रतिमा 21 फुट की है जो यहाँ विराजित हो चुकी है एवं इस मंदिर का कार्य पूर्णतया की ओर अग्रसर हो रहा है। आगे उन्होंने बतलाया कि सहस्र कूट जिनालय की 1008 प्रतिमाओं में से 840 प्रतिमाएँ जयपुर में बनवाई जा रही हैं तथा शेष के लिये दातारों को अपनी चंचला राशि के सदुपयोग का अवसर उपलब्ध है।

क्षेत्र की ओर से आर.के. मार्बल लि. किशनगढ़ वालों ने विभिन्न अँचलों से पधारे हुए पदयात्री संघों के अध्यक्षों एवं संयोजकों आदि का तिलक लगाकर, माल्यार्पण कर, शॉल एवं प्रतीक चिन्ह भेंट कर सम्मान किया गया।

इसी श्रृंखला में पदयात्रियों के लिये मार्ग में नाश्ता, अल्पाहार आदि के व्यवस्थापकों एवं आज के वात्सल्य भोज प्रदाता मेसर्स आर.के. मार्बल के 102 वर्षीय बाबा रतनलाल पाटनी जो, इस आयु में भी किसी जवान से कम नहीं, का भावभीना सम्मान समिति के अध्यक्ष भागचंद्र गदिया द्वारा किया गया तथा ज्ञानोदय नवयुवक मंडल के अध्यक्ष श्री धनराज पाटोदी, अनिल गदिया एवं केसरगंज के श्री कपिल दनगसिया का भी सम्मान क्षेत्र की ओर से किया गया। इस अवसर पर मुख्य अतिथि के रूप में पधारे अजमेर जिले के सांसद प्रो. रासासिंह रावत ने भी दो शब्द धन्यवाद के अर्पित किये जिनका भी शाल, प्रतीक चिन्ह व माल्यार्पण कर स्वागत किया गया।

हीराचन्द्र जैन, प्रचार प्रसार संयोजक

अक्टूबर 2001 जिनभाषित 19

संवेदनाएँ और संस्मरण

अमरनाथ शुक्ल

मुझे अपने एक कविमित्र का अचानक एक पत्र मिला - जैन मुनि श्री क्षमासागरजी की एक कविता पुस्तक प्रकाशित करना है, आप देख लें।

एक दिन पाण्डुलिपि मिली। उलट पुलट कर देखने लगा। मैं जैन मतावलम्बी नहीं, मुनिश्री जी के नाम से पूर्व-परिचित नहीं था, पर कवि क्षमासागर का परिचय मुझे उनकी कविताओं से मिला। साहित्यिक रुचि और वृत्ति के कारण मैं कविताएँ पढ़ता ही चला गया। गंभीर होकर सोचने लगा, एक वीतरागी मुनि के मन में संवेदनाओं तथा भावों का कितना कोमल अनुराग है। राम झरोखे बैठ के जीव जगत के क्रिया-कलापों, अनुभवों तथा अनुभूतियों का कितनी सूक्ष्मता से मुजरा लिया है? इस संत ने जो सूक्तियाँ लिखी हैं सतसैया के दोहों की तरह, जो देखने में छोटे लगे घाव करें (भाव भरें) गंभीर। इन सहज कविताओं में कैसा ऊँचा अध्यात्म भाव है, पढ़ते ही बनता है। मुझे एक प्रसंग याद आया। सूरदास तथा तुलसीदास समकालीन संत कवि थे। एक दिन किसी ने सूरदास से कहा- 'बाबा! तुलसीदास बहुत अच्छी कविता लिखते हैं। उनकी कविताओं की लोगों में बड़ी चर्चा है।'

सूरदास ने टोकते हुए कहा - 'तुम्हें भ्रम है। मैं जानता हूँ, तुलसीदास को तो कविता लिखनी आती ही नहीं, वह कविता क्या लिखेंगे? कविता तो मैं लिखता हूँ, पढ़ कर देखो। तुलसी कविता नहीं मंत्र लिखते हैं, जो पढ़ते ही मन में उतर जाता है, जो जपा, गुना और गुनगुनाया जाता है।

कवि क्षमासागर जी की कविताओं को पढ़कर मुझे लगा कि कविता के दौर में, कवियों की भीड़ से अलग इस संत कवि ने मंत्र जैसा मनन करने योग्य लिखा है।

पूर्व जीवन की पृष्ठभूमि से थोड़ा परिचित हुआ तो और चमत्कृत हुआ। अक्सर यह देखा गया है कि जीवन में बहुत बड़े निर्णय के लिये सोच-विचार और ऊहा-पोह

73 वर्षीय श्री अमरनाथ शुक्ल जाने-माने पत्रकार, उपन्यासकार, कोशकार और प्रकाशक हैं। अब तक आपकी पच्चीस से अधिक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। इनमें से एक उपन्यास 'अन्नदा' हिन्दी अकादमी दिल्ली द्वारा पुरस्कृत किया गया है। आपने मारीशस में सम्पन्न विश्व हिन्दी सम्मेलन में भारत का प्रतिनिधित्व किया था। छह वर्ष पूर्व आप मुनि श्री क्षमासागर जी के सम्पर्क में आये और उनके काव्य एवं व्यक्तित्व से अत्यन्त प्रभावित हुए। प्रस्तुत लेख में उन्होंने अपनी अनुभूतियों और संस्मरणों को अभिव्यक्ति दी है। लेखनी हृदय को छू लेती है।

का अवसर नहीं होता, क्षणभर में निर्णय और क्रियान्वयन होता है। सागर में जन्मे वीरेन्द्र कुमार सिंघई नामक युवक एक दिन ऐसे ही अपने माता-पिता, भाई-बहिन के स्नेहिल परिवार के मोह-माया के बंधन तथा एम.टेक. की उच्च शिक्षा के बावजूद समस्त भौतिक उपलब्धियों एवं भावी महत्वाकांक्षाओं को एक झटके में ही नकार कर दिगम्बरी राह पर चल पड़ा। तकनीकी विज्ञानी होते हुए भी कितना आंतरिक ज्ञानी है, सब को देखने परखने की कैसी सूक्ष्म दृष्टि है, कितना मानवीय संवेदनाओं से लबरेज है? वह मनुष्यों की ही नहीं, चिड़ियों की भी भाषा समझता है, उनके क्रिया कलापों से उनके मनोविज्ञान को जानता है। यह मैं उनकी काव्य अभिव्यक्ति में ही नहीं, बल्कि कई वर्षों से उनके सहज जीवन में भी निरंतर देखता आ रहा हूँ।

अध्यात्म की जिस डगर पर वे चल रहे हैं, जैसा तपोनिष्ठ जीवन जी रहे हैं वैसी ही अभिव्यक्ति। लिखते हैं -

यात्रा पर निकला हूँ/ लोग बार-बार पूछते हैं/ कितना चलोगे / कहाँ तक जाना है/ मैं मुस्करा कर आगे बढ़ जाता हूँ/ किससे कहूँ/ कहीं नहीं/ मुझे तो अपने तक आना है।

पर विनत भाव से महसूस करते हैं, अपने तक पहुँचने के लिये साधना अभी अधूरी है। अपने 'मैं' को मिटाना है, अहं को गलाना है, इसीलिये आगे कहते हैं -

'अभी मुझे और धीमे कदम रखना है/अभी तो चलने की आवाज आती है।

कैसे विनम्र, निरभिमान है। आज तो थोड़ी ही उपलब्धि में लोग न जाने कितना इतराने लगते हैं।

आत्म साक्षात्कार में मुनिजी कहते हैं -

'सारे आवरण टूट कर गिर गए हैं/अंतस के तमाम अवगुंठन खुल गए हैं/सचाई जो भी हो/मैंने तो सिर्फ अपने को निकट से देखना चाहा है।

पर अपने को जानना, पाना कितना कठिन है, आगे कहते हैं -

'अपने को अपने में देखना/अपनी सीमाएँ खुद तय करना/ अपने को चुपचाप सहना/कितना मुश्किल है/इस तरह नितांत अपना होना।

हम जीवन भर बाहरी भौतिकताओं को पाने के लिये छटपटाते रहते हैं, भागते रहते हैं। कभी भी अपने को पाने, जानने का प्रयास नहीं करते। यदि ऐसा कर सकें तो देखिए कवि क्या कहता है -

मेरे देवता/जब मैंने अपने भीतर झाँका/अपने को देखना चाहा/पहिली बार तुम्हें देखा/तुम्हें पाया।

जो दिव्य ज्योति हमारे अन्दर विराज रही है उसे बाहरी अंधेरे में क्यों ढूँढ रहे हैं। आत्म प्रकाश में ही परमात्मा के दर्शन होते हैं।

ज्ञानी और दानी होने की लौकैषणा बड़ी प्रबल होती है। यह एषणा सिर पर चढ़ जाती है। गर्वोन्मत्त कर देती है। लेबनान के एक मनीषी खलील जिब्रान ने एक जगह लिखा है- 'वही दान सार्थक होता है जिसमें दाता यह न देख/जान पाए कि वह किसे दान दे रहा है, तथा याचक यह न देख/जान पाए कि उसे किसने दान दिया, इससे न तो दाता के मन में यह अहंकार पैदा होगा कि उसने अमुक याचक की दीनता पर तरस खाकर दान दिया और न याचक इस हीन भावना का शिकार होगा कि उसके दैन्य पर तरस खाकर अमुक ने उसे दान दिया।

कवि क्षमासागरजी भी किसी के ज्ञानी और दानी होने के अहंकारी भ्रम को तोड़ने के लिये कहते हैं-

‘कभी ऐसा हो कि देने का मन हो/और लेने वाला कोई करीब न हो/कभी हम कुछ कहना चाहें और सुनने वाला कोई करीब न हो/तब एहसास होता है/देने और सुनाने वाले से/लेने और सुनने वाला ज्यादा कीमती होता है। बहुत कुछ है, यह तो मात्र एक बानगी है। उनकी कविताओं को पढ़ कर मैंने कवि क्षमासागर को जाना, पर मुनि क्षमासागरजी को पाया उन्हीं की कविता विश्वास के माध्यम से-

जिसे पाकर/हम अपना सब/खो देने को/राजी हो जाते हैं/और यह भी नहीं पूछते/ कि अपने को देखकर हम क्या पायेंगे/मानिए यह विश्वास है/और एकदम सच्चा है।

मैंने मुनिजी में यह विश्वास ही पाया है। कवि क्षमासागर से परिचय के बाद मुनि क्षमासागरजी का प्रथम दर्शन मुझे उनके इंदौर प्रवास में ‘मुनि क्षमासागर की कविताएँ’ के लोकार्पण के अवसर पर हुआ। देखते ही अन्तर्ज्ञान ने कहा, यहाँ परखने की गुंजाइश नहीं- यह कोमलता, यह सहजता, यह बाल सुलभता, यह अहं शून्यता इस संत का बाहर और अन्दर का सब कुछ है - एकदम निर्मल स्वच्छ, स्फटिक सा पारदर्शी। सिर झुक गया, हाथ जुड़ गए। एक वीतरागी, अपरिग्रही, संत से यह अनुरागी, परिग्रही गृहस्थ जुड़, गया। तब से अब तक मुनिजी के प्रत्येक चातुर्मास में उनके दर्शन तथा सान्निध्य का सौभाग्य मुझे निरंतर मिलता आ रहा है।

इन अवसरों पर मुनिजी के साथ अपने एकाध अविस्मरणीय संस्मरणों को आत्म सुख के लिये व्यक्त कर रहा हूँ। बीना में वर्षायोग के समय जब मैं उनसे मिलने गया तो एक दिन मुनि श्री ने कहा - निकट ही सागर में आचार्य श्री विद्यासागर जी का चातुर्मास है, दर्शन करना चाहें तो सागर हो आयें।

मुनि जी की लिखी पुस्तक ‘आत्म-न्वेषी’ मैं पढ़ चुका था। यह पुस्तक आचार्यश्री के शिष्य ने नहीं लिखी। शिष्य तो निमित्त जैसा है। मुनि जी को तो जैसे परकाया-प्रवेश की सिद्धि है। विद्याधर से आचार्य विद्यासागर तक की यात्रा में मुनि जी ने अपने को आचार्य श्री की माता की भावभूमि में प्रविष्ट कर दिया है। मातृभाव से लिखा है। जिन्हें पढ़ा था उन्हें प्रत्यक्ष देखना और मिलना सौभाग्य की बात थी। मैंने कहा - ‘महाराज! बड़ी भीड़ होगी,

कोई संकेत मिल जाये तो सहज हो।’

मुनि जी ने सहज कहा - ‘हम लोगों को तीन-तीन, चार-चार साल तक दर्शन नहीं हो पाते। जाओ, जैसा अवसर मिले करना।’

गया, आचार्यश्री आहार लेने के बाद आसन पर विराजमान थे। बड़ी भीड़ थी। स्वयंसेवक को आने का प्रयोजन बताया। उसने प्रवचन के बाद मिलने को कहा। बाद में गया तो स्वयंसेवक ने बताया कि अभी आचार्यश्री कुछ विशिष्ट लोगों से विचार विमर्श कर रहे हैं। दूर से ही दर्शन कर लो, मिलना संभव नहीं।

जाने कैसे मेरे मन में यह भाव आया और मैंने छूटते ही कहा- ‘मैं अति विशिष्ट हूँ। मुझे उनके दृष्टि-पथ तक जाने दो।’ स्वयंसेवक सहमा। मैं आगे बढ़ा, दूर ‘नमोऽस्तु’ की मुद्रा में खड़ा हो गया। कुछ देर बाद आचार्यश्री ने आँखे उठाई, मुझे देखा, आशीर्वाद की मुद्रा में हाथ उठाया और मैं आगे बढ़ कर उनके चरणों तक पहुँच गया। परिचय दिया। आचार्यश्री ने कुशल क्षेम जानकर और भी बहुत कुछ पूछा।

मैं कृतार्थ होकर आ गया। मुनिश्री ने पूछा - दर्शन हुए? मैंने कहा- ‘दर्शन के साथ स्पर्शन भी हुआ।’ मुनि जी मुस्कराए - ‘भाग्यशाली हो।’

मैं भी हँसा - आपका आशीर्वाद पाया हुआ कोई अभागा रह ही नहीं सकता।

एक निजी प्रसंग। मेरी पुत्र वधू कैसर ग्रस्त थी। मुनिजी को पता था। मिलने पर हर बार स्वयं उसका हाल पूछते थे। एक बार मैंने अपने दुख से विचलित होकर कहा- ‘महाराज जी! आप स्थितप्रज्ञ वीतरागी हैं। सुख-दुख, राग-द्वेष से निर्विकार। मेरी वेदना से आप जुड़ जाते हैं, मैं अन्तर तक भीग जाता हूँ।’

मुनि जी की बात कभी नहीं भूलता। कितनी संवेदना, कितनी परदुख-कातरता, कितना निजत्व! कहा- ‘हम मुनि और संत बाद में हैं, पहले मनुष्य हैं। इस शरीर में जो मन है, बुद्धि है, परम चैतन्य आत्मा है, वह कैसे पत्थर जैसा संवेदनहीन हो जायेगा? मानवीय संवेदना सर्वोपरि है। हममें अगर वही न रह पायी तो संत होकर क्या करेंगे? पर सब संत ऐसा कहाँ सोच पाते हैं, कर पाते हैं। आत्मरति या आत्ममुक्ति के ही बंधन में बँधे रहते हैं।

गुरु के प्रति मुनि जी की कैसी आस्था है, कैसी भक्ति है, कैसा विश्वास है, उनके प्रति कितने भावुक हैं, यह एक प्रसंग में मैंने सुना। मुनि जी सुना रहे थे- एक बार सागर

में आचार्य श्री विद्यासागर जी का चातुर्मास पड़ा, पर संयोग ऐसा कि वर्षा न होने से पानी का संकट। एक सज्जन हाथ जोड़कर बुन्देलखण्डी में बोले - ‘महाराज जी! चातुर्मास तो इते हो गव पै पानी तो हैई नइयाँ।’ आचार्यश्री कुछ बोले नहीं। धीरे से मुस्कराए और आगे बढ़ गए। दोपहर बाद जो बादल घिरे तो ऐसे बरसे, ऐसे बरसे कि सब ताल तलैयाँ उमड़ पड़ीं।

दूसरे दिन सबेरे फिर वे सज्जन आये। हाथ जोड़कर अभिभूत होकर बोले- ‘महाराज जी! पानी तो चाने तो पै इतो नई।

आचार्यश्री की वही सदाबहार मुस्करा-हट। बोले कुछ नहीं। बादल छूट चुके थे, आकाश निर्मल हो चुका था।

मुनि जी यह प्रसंग सुनाते हुए आचार्य श्री के प्रति इतने भावुक हो गए कि उनका गला भर आया। कहने लगे- यह कौन सा विज्ञान था, मैं नहीं जानता।

सुनकर मैं भी भाव-विभोर हो गया। मेरे अन्तर्मन ने कहा यह विज्ञान तर्क का नहीं, श्रद्धा का है, विश्वास का है। यह आत्म विज्ञान है। उस परम चैतन्य को, अनन्त सत्ता को किसी ने नहीं देखा है, पर वह है, भक्ति भावना ने जगती को मूर्तिमान भगवान दे दिये। उसका होना हमारे विश्वास और श्रद्धा का फल है। आपने भी तो लिखा है - ईश्वर मेरे/मेरी श्रद्धा/ मुझे तुम्हारे होने का अहसास कराती है/सचमुच अब तुम्हारा होना/मेरी श्रद्धा के लिये कितना जरूरी है। कई बार मुनि जी को प्रवचन करते मैंने देखा है, सुना है। देखने में भले ही लगता है कि वे श्रोताओं से अलग उच्चासन पर बैठकर प्रवचन कर रहे हैं, पर सुनते हुए ऐसा लगता है कि वे श्रोताओं के बीच उन्हीं में से एक अपने विचार प्रकट कर रहे हैं, उपदेश आदेश न देकर वार्ता कर रहे हैं। सब को अपने साथ लेकर चल रहे हैं, सबके साथ चल रहे हैं। उनके प्रवचनों के केन्द्र में मानव जीवन का विकास तथा कल्याण रहता है। मुझे मुनि जी के प्रवचन में यही केन्द्र ध्वनि सुनाई देती है-

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःख भाग् भवेत्॥
सब सुखी हों, सब नीरोग हों, सब की दृष्टि मंगलमय हो, कोई दुखी न हो।

मैं बड़भागी हूँ जो एक सुविचारक सहृदय, निःस्पृह, मानवीय संवेदनाओं से सराबोर संत का सान्निध्य तथा उनसे निजता का अनुभव करता हूँ।

पी-10, नवीन शाहदरा, दिल्ली-11032

अक्टूबर 2001 जिनष्पापित 21

प्रजातंत्र से मेरी रिश्तेदारी

शिखरचन्द्र जैन

प्रजातंत्र में आंदोलनों का वही स्थान है जो समुद्र में लहरों का। जिस तरह मंद-मंद बयार के साथ उठती-गिरती लहरें समुद्र में सर्वदा विद्यमान रहती हैं, उसी तरह नाना प्रकार के जन-समूहों में उत्तरोत्तर बलवती होती विभिन्न लालसाओं से प्रेरित आंदोलन प्रजातंत्र में निरंतर चलते रहते हैं।

जिस तरह वातावरण में निम्न दाब के क्षेत्र बनते रहने से समुद्र में अक्सर तूफान उठ आते हैं, उसी तरह प्रजातंत्र में कई प्रकार के दबावों के वशीभूत हो आंदोलन बहुधा उग्रता धारण कर लिया करते हैं और जिस तरह मौसम विभाग आने वाले तूफान की तीव्रता का अंदाज लगाते हुए, मछुवारों को समुद्र में न जाने की सलाह देते रहते हैं, उसी तरह आन्दोलन-कर्त्ता, शांतिपूर्ण आंदोलन का रुख, सरकारी हस्तक्षेप के कारण, कभी भी उग्रता की ओर मुड़ जाने की आशंका बतलाते हुए, लोगों को घर से बाहर न निकलने की सलाह दे दिया करते हैं। इससे सिद्ध होता है कि प्रजातंत्र में आन्दोलन, समुद्र में लहरों की तरह ही नैसर्गिक एवं अवश्यभावी होते हैं।

यहाँ, लगे हाथ, मैं यह बतलाता चलूँ कि हमारे देश में प्रजातंत्र का जन्म, मेरे जन्म के बाद हुआ था। इस हिसाब से मैं प्रजातंत्र को अपना छोटा भाई मानता हूँ। मुझे यह अच्छी तरह से याद है कि उन दिनों मैं सागर के पड़ाव स्कूल में पहली कक्षा का विद्यार्थी था जब प्रजातंत्र के जन्म के उपलक्ष्य में हमारे स्कूल में लड्डू बँटे थे। शुद्ध देशी घी में बने मोतीचूर के लड्डू का स्वाद जिह्वा पर चढ़ते ही प्रजातंत्र मुझे बहुत अच्छा लगा था, बहुत ही प्यारा। इसलिये मैंने उसी दिन प्रजातंत्र से इक तरफा रिश्ता कायम कर लिया था और तब से अब तक मैं, प्रजातंत्र के सकुशल बने रहने की कामना, निरंतर करता रहा हूँ तथा चाहता रहा हूँ कि प्रजातंत्र अपने उद्देश्य में सदा सफल रहे तथा उसकी कीर्ति चहुँओर

मन्थरगति से चलने वाले ये जुलूस अथवा बारातें ट्रैफिक को कितनी देर जाम करके रखेंगी, यह कोई नहीं बतला सकता। न ही इस मामले में कोई किसी की कुछ मदद कर सकता है। आखिर हैं तो सभी एक स्वतंत्र देश के स्वतंत्र नागरिक, जिन्होंने बाकायदा शासन की प्रजातांत्रिक प्रणाली अपना रखी है, जिसके अंतर्गत वे अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का मूल अधिकार रखते हैं।

फैले!

लेकिन लगता है कि मेरी कामनाओं में, चाहतों में, दुआओं में कहीं कोई भारी कमी रही है क्योंकि मैंने बहुतेरे लोगों को प्रजातंत्र के प्रति सर्वथा अनुदार रवैया अपनाते हुए देखा है। यहाँ तक कि कुछ लोग तो प्रजातंत्र की तीखी आलोचना करते हुए पाए गए हैं। उनके विचार में, प्रजातंत्र ने देश की सारी व्यवस्था को चौपट कर रखा है। वोटों की राजनीति ने देश की लुटिया डुबो दी है। कोई किसी के नियंत्रण में नहीं है, जिसकी जो मर्जी हो, सो करता है। आम आदमी का जीना दूभर हो गया है। योजनाबद्ध तरीके से कोई भी काम कर पाना संभव नहीं रहा है। प्रशासन नाम की कोई चीज नहीं रह गई है। देश रसातल की ओर प्रस्थान कर चुका है। गोया, प्रजातंत्र को कोसने-गरयाने के लिये जितने जुमले सोचे जा सकते हैं, सभी इस्तेमाल किये जा चुके हैं।

जिन्हें प्रजातंत्र के साथ मेरी रिश्तेदारी की जानकारी है उन्हें इस संदर्भ में जान-बूझकर मुझसे बात करने में जरा ज्यादा ही आनंद आता है। मसलन, एक रोज, मेरे एक मेहमान, जिन्हें रात नौ बजे की गाड़ी से दिल्ली जाना था, शाम छह बजे से ही रेलवे स्टेशन जाने हेतु व्याकुल नजर आए। कहने लगे - 'आटो बुलवा दो, मैं स्टेशन चल देता हूँ।'

'अजीब आदमी हो', मैंने कहा - 'यहाँ से स्टेशन पहुँचने में मुश्किल से पन्द्रह मिनिट लगेंगे। बाकी समय वहाँ क्या आलू छीलोगे?'

'वो ऐसा है कि मुझे दिल्ली जरूर ही पहुँचना है -' उन्होंने कहा। 'अब रेलगाड़ी चलेगी तो पहुँच ही जाओगे -' मैं बोला।

'वही तो', उन्होंने जरा मुस्कराते हुए कहा, 'किसी बात का भरोसा तो है नहीं, प्रजातंत्र जो ठहरा। इसलिये थोड़ा समय हाथ में रख कर चलना चाहिए।'

'तो आठ बजे चले जाना। अभी तो दो घंटे हैं।'

'इन दो घंटों में तो मेरे दिमाग की नसें फूल जायेंगी। आटो-रिक्शा यदि अभी आ जाता तो इतना संतोष हो जाता कि आटो वाले हड़ताल पर नहीं हैं।'

'नहीं हैं भैया, आटो-वाले हड़ताल पर नहीं हैं।' मैंने उन्हें आश्चस्त करते हुए कहा, 'और पेट्रोल पम्प वाले भी हड़ताल पर नहीं हैं।'

'पर इस बात की क्या गारंटी है कि रास्ता खुला ही मिलेगा? हो सकता है कि उस समय कोई जुलूस निकल रहा हो या कोई शोभा यात्रा चल रही हो अथवा किसी की बारात निकल रही हो,' मेहमान ने कहा- 'पता है! ये जुलूस वाले भले दस-बीस ही हों, पर मेन रोड पर इस कदर फैल कर चलते हैं कि एक साइकिल भी उन्हें भेद कर आगे न निकल सके और बारात वालों का तो कहना ही क्या? मदमस्त होकर नाचते हुए लोग, आसमान में छेद कर देने पर उतारू फटाके और कानों के पर्दे फाड़ देने की सामर्थ्य रखने वाले बाजों के बीच से कोई महावीर ही बारात को पारकर आगे निकलने का कौशल दिखला सकता है। और मन्थर गति से चलने वाले ये जुलूस अथवा बारातें, ट्रैफिक को कितनी देर जाम करके रखेंगी, यह कोई नहीं बतला सकता है। न ही इस मामले में कोई किसी की कुछ मदद कर सकता है। आखिर हैं तो सभी एक स्वतंत्र देश के स्वतंत्र नागरिक, जिन्होंने बाकायदा शासन की प्रजातांत्रिक प्रणाली

अपना रखी है, जिसके अंतर्गत वे अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का मूल अधिकार रखते हैं।'

मुझे लगा कि मैं यदि प्रजातंत्र के बचाव में दलीलें देना प्रारंभ करूँगा तो फिर जरूर मेरे मेहमान की ट्रेन छूट जाएगी। इसलिए मैंने तत्काल आटो बुलवाया और उन्हें विदा किया।

उपर्युक्त वार्तालाप से मैं कई दिनों तक व्यथित रहा। मेरे लिये यह जानकारी निश्चय ही पीड़ादायक थी कि प्रजातंत्र से लोगों का मोहभंग होने लगा है। हालाँकि, क्यों होने लगा है? यह कोई नहीं बतला पाता।

अब संसद में किसी एक पार्टी को बहुमत नहीं मिला तो मिली-जुली सरकार बनाना पड़ी, जो कि कोई कठोर निर्णय नहीं ले पाती, क्योंकि अगर लेती है तो एकाध घटक खिसकने पर उतारू हो जाता है, जिससे सरकार के अल्पमत में आ जाने का अंदेश हो जाता है, जबकि अन्य पार्टियों में एका न होने से वैकल्पिक सरकार की गुंजाइश नहीं बन पाती और सबके सिर पर मध्यावधि चुनाव की तलवार लटकने लगती है, तो इसमें प्रजातंत्र का क्या दोष है?

किसी प्रदेश का मुख्यमंत्री कौन बने, इसका निर्णय यदि संबंधित राजनीतिक दल, उसके विधायकों के बहुमत से करने की कोशिश करे तो निश्चय ही विधायक-गण उतने धड़ों में बँट जायेंगे, जितने कि विधायक होंगे, जिसके फलस्वरूप विधायकों की संख्या के बराबर ही मुख्यमंत्री पद के दावेदार उठ खड़े होंगे। इस हालत में, पार्टी को टूटने से बचाने हेतु एवं अपने ही दल की सरकार सुनिश्चित करने के लिये यदि मुख्यमंत्री का चुनाव हाईकमान पर छोड़ दिया जाता है, तो इसमें प्रजातंत्र क्या करे?

सांसदों की संख्या अल्प होने के बावजूद, यदि किसी राजनीतिक दल की मर्जी किसी विशेष विधेयक को संसद में पेश न होने देने की होती है और इस हेतु उस दल के सांसद सदन में नान-स्टॉप हंगामा मचाए रखते हैं, ताकि सदन की कार्यवाही चल ही न पाए और इस प्रक्रिया में अन्य विरोधी दल, सरकार की फजीहत होते देख, मन ही मन आनंदित होते हुए मूक दर्शक बने रहते हैं,

तो इस परिदृश्य में प्रजातंत्र कहाँ दृष्टिगोचर होता है?

यह सब और ऐसे ही अनेक उदाहरण हैं, जिन्हें मुद्दा बनाकर प्रजातंत्र को बदनाम करने की कोशिश की जाती है। मुझे लगता है कि दान की बछिया को लेकर जो भ्रम चार ठगों ने पण्डित के मन में पैदा किया था, प्रजातंत्र के मामले में वही हथकंडा दोहराया जा रहा है।

पर मेरे कई मित्र मेरी इस बात से इत्फाक नहीं रखते! उनका कहना है कि समय के साथ, हमारे प्रजातंत्र में निश्चय ही कुछ गंभीर किस्म की विकृतियाँ विकसित हुई हैं, जिनका कुप्रभाव अब सार्वजनिक रूप से परिलक्षित होने लगा है। किसी विभाग के, उद्योग के, दफ्तर के, कर्मचारियों की हड़ताल तो फिर भी कुछ हद तक समझने वाली बात होती है, पर विभिन्न राजनीतिक दलों के द्वारा आए दिन किए जाने वाले नाना प्रकार के आन्दोलन, यथा - रास्ता रोको, रेल रोको, पानी रोको, बिजली रोको, खनिज रोको, गेहूँ रोको, चावल रोको, ग्राम बंद, नगर बंद, शहर बंद, प्रांत बंद, देश बंद, घेराव, हल्ला-बोल, आत्मदाह आदि पता नहीं किस विधान के अंतर्गत उचित माने जाते हैं? इनसे न जाने किनका क्या भला होता है? और यह भी पता नहीं कि यदि लोग यह सब केवल अपनी शक्ति के प्रदर्शन हेतु ही नहीं करते हैं, तो फिर प्रजातंत्र में उन्हें यह सब करने के लिये बाध्य क्यों होना पड़ता है?

यहाँ विनम्रता पूर्वक मैं यह कहना चाहूँगा कि दरअसल यही तो प्रजातंत्र की खूबी है कि लोगों को अपनी पीड़ा, अपना दर्द, अपना आक्रोश, अपने विचार, कभी भी, कहीं भी, किसी भी शांतिपूर्ण तरीके से प्रकट करने का अवसर उपलब्ध है। इसे प्रजातंत्र का गुण माना जाना चाहिए, अवगुण नहीं और फिर आन्दोलन तो जीवन्त होने की निशानी है। जो जीवित होते हैं वही तो हल-चल कर पाते हैं। वही तो आन्दोलित होने की क्षमता रखते हैं। प्रजातंत्र में आन्दोलन तो स्वाभाविक है, समुद्र में लहरों की तरह स्वाभाविक।

7/56 ए, मोतीलाल नेहरू नगर (पश्चिम)
भिलाई (दुर्ग) छ.ग. 490020

समाचार

श्री दिगम्बर जैन ज्ञानोदय तीर्थ क्षेत्र, ज्ञानोदय नगर अजमेर में वार्षिक कलशाभिषेक एवं पदयात्रा समारोह

दिनांक 30.9.2001 रविवार, को अ.भा. श्री दिगम्बर जैन ज्ञानोदय तीर्थ क्षेत्र, अजमेर में वार्षिक जिनाभिषेक का विशाल स्तर पर भव्य कार्यक्रम आयोजित हुआ।

कलशाभिषेक महामहोत्सव में भाग लेने हेतु अनेक नगरों, ग्रामों से पदयात्रा करके अदम्य उत्साह एवं हर्षोल्लास के साथ परम पावन अतिशयकारी तीर्थ पर हजारों की संख्या में नर, नारी, बाल-अबाल पधारे।

अजमेर नगर से लगभग 2500 साधर्मिजनों ने पैदल चलकर कलशाभिषेक कार्यक्रमों में अपनी सहभागिता दी।

इस प्रकार लगभग 30 कि.मी. किशनगढ़ से पदयात्रा प्रारंभ करके प्रातः 10.00 बजे क्षेत्र पर पदार्पण किया।

ब्यावर, नसीराबाद, जैठाना, मांग-लियावास, छोटा लाम्ब, भवानीखेड़ा, केकड़ी, सरवाड़ आदि-आदि स्थानों से सहस्राधिक धर्मानुरागी समाज ने भाग लिया।

दिगम्बर जैन समिति (राज.) की ओर से क्षेत्र पर पैदल आने वाले बन्धुओं का सम्मान किया गया।

विश्व विख्यात नाम आर.के. मार्बल्स लि. किशनगढ़ की ओर से क्षेत्र पर पधारे सकल साधर्मि बन्धुओं के लिये सामूहिक भोज दिया गया।

श्रेष्ठ श्री संजय कुमार जी, विजय कुमार जी महतिया की ओर से "कल्याण मंदिर विधान" पूजन का भव्य आयोजन किया गया।

इस प्रकार लगभग आठ हजार साधर्मि बन्धुओं ने इस महामहोत्सव कार्यक्रम में भाग लिया।

श्रीकमचन्द्र पाटनी
स. मंत्री

जैन संस्कृति और साहित्य के विकास में कर्नाटक का योगदान

प्रो. (डॉ.) राजाराम जैन

आदिपम्प सम्भवतः ऐसा प्रथम कन्नड़ जैन कवि था, जिसने कन्नड़ के 'आदिपुराण' नामक महाकाव्य में लिखा है कि - 'भरत ने अयोध्या में सम्राट पद ग्रहण किया। हिमवत-पर्वत से लवण-सागर पर्यन्त षट्खण्ड भूमण्डल उसका शासन मानता था। उसके धर्म-प्रेम की कीर्ति दिग्दिगन्त में व्याप्त थी। प्रजा भी राजा की भाँति धर्म में अनुरक्त थी। ऋषभपुत्र भरत इस देश का प्रथम चक्रवर्ती सम्राट हुआ इसीलिए उसके नाम पर आज भी यह देश 'भारत' कहलाता है।'

माननीय लेखक ने पूर्वांक में कर्नाटक की भूमि को अपने जन्म और साहित्यिक-सांस्कृतिक सर्जना से विभूषित करने वाले जैनाचार्यों और कवियों की लम्बी सूची प्रस्तुत की थी। प्रस्तुत लेख में उनके साहित्यिक और सांस्कृतिक अवदान पर प्रकाश डाला जा रहा है।

मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। ऐसे दर्शनार्थियों में सुप्रसिद्ध पुराविद् जेम्स फर्ग्युसन, बर्जेस, स्मिथ आदि प्रमुख हैं। जर्मनी के दार्शनिक विद्वान् डॉ. हेनरिच जिम्मेर ने तो यहाँ तक लिखा है कि - 'आकृति एवं अंग-प्रत्यंगों की संरचना की दृष्टि से यद्यपि यह

हम लोग तो यहाँ इतिहास सुनाने के लिये नहीं, बल्कि इस कर्नाटक की तपोभूमि की रज-वन्दन करने आये हैं और उसके स्वर्णिम अतीत का स्मरण कर अपनी साहित्यिक ऊर्जा को प्रदीप्त करने के लिये उत्तरापथ के कोने-कोने से चलकर यहाँ पहुँचे हैं। आज हमें स्मरण आ रहा है, चरणपूज्य उस अरिहनेमि जैसे महामहिम शिल्पकार का, जिसने अपनी भरी जवानी में भी न केवल अपने परिवार की उपेक्षा की, अपितु अपनी भूख, प्यास एवं निद्रा को भी भूलकर सतत श्रद्धाभक्ति एवं समर्पित, निष्काम-भावना से विश्व को आश्चर्यचकित कर देने वाली उत्तुंग भव्य एवं एक-शिलाश्रित गोम्मटेश की मूर्ति को घड़ा, जिसकी सुघड़ता और सौम्यता की प्रशंसा के लिये बोष्पण जैसे यशस्वी महाकवि के पास भी समर्थ शब्दों का अभाव हो गया था। अतः उसे अपने तद्विषयक चरित-काव्य में भी लिखना पड़ा था कि 'मेरे पास तो केवल टूटे-फूटे असमर्थ अथवा विकलांग शब्द मात्र ही हैं, फिर भी मैं यह कहने के लिये बाध्य हूँ कि -

अतितुंगाकृतियादोडागदद रोल्सौन्दर्य्य मौन्नत्यमुं,

नुतसौन्दर्यनुभागे मत्ततिशयंतानागदौन्नत्यमुं।

नुतसौन्दर्य्यमुमूर्ज्जिताशियमुं तन्नल्लि निन्दिदुर्दुवं,

क्षितिसम्पूज्यमो गोम्पटेश्वरजिनश्री रूपमात्मोपमं॥

अर्थात् कोई भी मूर्ति आकार में जब बहुत ऊँची एवं विशाल होती है, तब उसमें प्रायः सौन्दर्य का अभाव रहता है। यदि वह विशाल भी हुई और उसमें सौन्दर्य-बोध भी हो, तो भी उसमें दैवी-चमत्कार का उत्पन्न करना कठिन है लेकिन गोम्मटेश की इस मूर्ति में उक्त तीनों के समुच्चय से उसकी छटा अलौकिक, अभूतपूर्व एवं वर्णनातीत हो गई है।

देशवासियों को तो इस मूर्ति ने मोहित किया ही, भौतिकता के रंग में रंगे हुए पाश्चात्य-दर्शनार्थियों ने भी उसकी चारुता देखकर

मूर्ति मानवीय है, तथापि अधर में लटकती हिमशिला की भाँति वह अमानवीय-मानवोत्तर है और इस प्रकार जन्म-मरण रूप संसार से दैहिक चिन्ताओं से वैयक्तिक नियति, इच्छाओं, पीडाओं और घटनाओं से असंपृक्त और पूर्णतया अन्तर्मुखी चेतना की वह सफल अभिव्यक्ति है।'

कर्नाटक ही नहीं, भारत के गौरव को उज्ज्वल करने वाली उस महान ऐतिहासिक मूर्ति ने निस्सन्देह ही श्रवणबेलगोला को भारत के पूर्वांचल स्थित तीर्थों के समान ही दक्षिणांचल को भी महान तीर्थ बना दिया है।

हम उन राज-कुलों, जिनवाणीभक्त एवं साहित्य-रसिक गंग, राष्ट्रकूट, चालुक्य एवं होयसल-नरेशों को भी सादर प्रणाम करते हैं, जिन्होंने सम्राट खारवेल के समान ही न केवल जैनधर्म के उत्तरोत्तर अभ्युदय के लिये अनेक द्वार खोले, अपितु जैनाचार्य-लेखकों, स्वामी वीरसेन, जिनसेन आदि के लेखन-कार्य हेतु वाटनगर तथा तलकाट में सुविधा सम्पन्न विद्यापीठों एवं ग्रन्थागारों की स्थापना भी की, जिनमें 5वीं सदी से 11वीं सदी तक विविध भाषा-शैलियों में विविध विषयक ग्रन्थों का लेखन-कार्य सम्पन्न किया गया। यदि महामन्त्री भरत एवं नन्न ने अक्खड़ एवं फक्कड़ महास्वाभिमानी अभिमानमेरु पुष्पदन्त को अपने राजभवन में अत्यंत विनम्र भाव से आश्रय स्थान न दिया होता, तो निश्चय ही अपभ्रंश का आद्य महापुराण एवं चरित-साहित्य लिखा ही न गया होता।

प्रचण्ड पराक्रमी राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष तो आचार्य वीरसेन एवं जिनसेन से इतना प्रभावित था कि उसने अपना राज्यपाट ही छोड़कर आचार्य जिनसेन से दीक्षा ले ली थी और उनके सान्निध्य में ही रहकर वह स्वयं कवि बन गया था। अपनी प्रश्नोत्तररत्नमालिका के अन्त में उसने स्वयं लिखा है-

विवेकाक्त्यक्तराज्येन राज्ञेयं रत्नमालिका।

रचितामोघवर्षेण सुधियां सदलंकृतिः॥२९॥

अर्थात् हेय एवं उपादेय तत्त्वों का विवेक प्राप्त कर अपने साम्राज्य का त्यागकर मुझ अमोघवर्ष (भूतपूर्व राष्ट्रकूट- सम्राट तथा

इस समय के राजर्षि) ने सुधीजनों को अलंकृत करने वाली इस 'प्रश्नोत्तररत्नमालिका' की रचना की है।

अमोघवर्ष के दो ग्रन्थ अत्यंत प्रसिद्ध हैं - छन्द एवं अलंकार शास्त्र से संबंधित 'कविराजमार्ग' तथा नीतिशास्त्र से संबंधित उक्त 'प्रश्नोत्तररत्नमालिका'। प्रश्नोत्तररत्नमालिका का महत्त्व इसी से जाना जा सकता है कि उसकी पाण्डुलिपि काल-प्रभाव से भारतवर्ष में तो दुर्भाग्य से अनुपलब्ध रही, किन्तु 'कातन्त्र-व्याकरण' के परमभक्त तिब्बत के भारतीय-विद्या के रसिक श्रद्धालुओं ने उसे तिब्बत के एक शास्त्रभण्डार में सुरक्षित ही नहीं रखा, अपितु उसका तिब्बती अनुवाद कराकर उसका अपने यहाँ प्रचार भी किया। संयोग से उसकी पाण्डुलिपि आचार्य श्री विद्यानन्द जी को सन् 1971-72 के आसपास प्राप्त हुई थी। उनकी प्रेरणा से उसका नागरी संस्करण तथा हिन्दी एवं अंग्रेजी-अनुवाद भ. महावीर के 2500वें परिनिर्वाण समारोह (सन् 1974-75) के आसपास प्रकाशित कराया गया और उसे सर्वसुलभ कराया गया, यद्यपि यह एक अत्यंत लघुकृति है। उसमें संस्कृत के आर्या-छन्द के केवल 29 श्लोक मन्त्र हैं किन्तु उनमें निश्चय, व्यवहार, आध्यात्मिक एवं आचार के साथ-साथ कवि के अपने जीवन के अनुभवों का, प्रियदर्शी मौर्य सम्राट अशोक के सदृश ही प्रश्नोत्तरी-शैली में एक साथ ऐसा सामंजस्य बैठाया गया है कि उसके पाण्डित्य, काव्य-कौशल तथा भाषाधिकार पर आश्चर्य होता है। कहाँ तो वह शस्त्रकला का पारगामी रणधोरी सैनिक सम्राट और कहाँ उसकी शास्त्रगामिता एवं लेखनी की प्रौढ़ता? धन-वैभव के विषय में उसकी विचारणा का एक मार्मिक उदाहरण देखिए - 'प्रश्नोत्तरी-शैली' में वह स्वयं से ही प्रश्न करता है और स्वयं ही उसका उत्तर भी देता है-

**'किं शोच्यं कार्पण्यं सति विभवे किं प्रशस्यमौदार्यम्।
तनुरवित्तस्य तथा प्रभविष्णोर्यत्सहिष्णुत्वम्॥25॥'**

प्रश्न - वैभव-सम्पत्ति के होते हुए भी शोचनीय विषय क्या है?

उत्तर - कृपणता अर्थात् वैभव-सम्पत्ति का न तो स्वयं उपभोग करना, और न ही उसे सुपात्रों को दान में देना।

प्रश्न - वैभव के होने पर प्रशंसनीय विषय क्या है?

उत्तर - उदारता, जिससे स्व-पर को सुख-सन्तोष मिलता है।

प्रश्न - धन-विहीन पुरुष की प्रशंसनीय बात कौन-सी मानी जाने योग्य है?

उत्तर - उदारता, मानवता एवं ऋजुता।

प्रश्न - शक्ति-सम्पन्न पुरुषों का सराहनीय गुण कौन-सा है?

उत्तर - सहिष्णुता, क्षमाशीलता एवं न्यायप्रियता।

'कविराजमार्ग' भले ही लाक्षणिक ग्रन्थ हो किन्तु अमोघवर्ष का कवि-हृदय इतना भावुक था तथा कर्नाटक के प्रति उसके मन में इतना अधिक उदार भाव था कि उसने काव्यारम्भ में अपनी मातृभूमि की रज-वन्दन कर आह्लादित भाव से उसकी प्रशंसा में इस प्रकार चित्रण किया है-

'समस्त भूमण्डल में, ऐसा सुन्दरतम भूखण्ड आपको कहीं भी दिखाई नहीं देगा, जहाँ लोक-मानस द्वारा सहज स्वाभाविक रूप में निःसृत-समृद्ध कन्नड़ के मधुर-संगीत के समकक्ष, हृदयावर्जक संगीत सुनाई देता हो।'

'उस कर्नाटक-भूमि के मूल निवासी जन, स्वर एवं लयबद्ध संगीतात्मक ध्वनियों में ऐसे जन्मजात प्रतिभा-सम्पन्न होते हैं कि वे किसी के भी, संगीत की अन्तरंग भाव-भूमि को तत्काल ही आत्मसात् कर लेने में सक्षम हैं और स्वयं भी वे बड़े संवेदनशील रहते हैं।'

'उस कर्नाटक के केवल विद्यार्थीगण ही नहीं, अपितु सर्वथा अशिक्षित ग्राम्यजन भी, जिसने कि विद्यालयों में कभी भी विधिवत् शिक्षा ग्रहण नहीं की, वह भी अपनी सहज स्वाभाविक प्रतिभा के बल पर काव्य-विद्या के परम्परागत नियमों को समझते हैं तथा अपने लोक-संगीत में स्वयं उनका प्रयोग भी कड़ाई पूर्वक किया करते हैं।'

महाजन टोली नं. 1, आरा-802301 (बिहार)

**किं शोच्यं कार्पण्यं सति विभवे किं प्रशस्यमौदार्यम्
तनुरवित्तस्य तथा प्रभविष्णोर्यत्सहिष्णुत्वम्॥**

धन होने पर निन्दनीय क्या है? कृपणता। निर्धन होने पर प्रशंसनीय क्या है? उदारता। शक्तिशाली होने पर सराहनीय क्या है? सहिष्णुता।

**दानं प्रियवाक्सहितं ज्ञानभगवर्ष क्षमान्वितं शौर्यम्।
त्यागसहितं च वित्तं दुर्लभमेतच्चतुर्भद्रम्॥**

लोक में चार (गुण दुर्लभ) हैं। प्रय बोलते हुए दान करना, ज्ञान रहते हुए अभिमान न करना, शौर्य होते हुए भी क्षमाशील होना और धन होने पर त्याग करना।

**को देवो निखिलज्ञो, निर्दोषः किं श्रुतं तदुद्दिष्टम्।
को गुरुरविषयवृत्तिर्निर्ग्रन्थः स्वस्वरूपस्थः॥**

देव कौन है? सर्वज्ञ। निर्दोष श्रुत क्या है? सर्वज्ञ का उपदेश। गुरु कौन है? जो विषयों से निवृत्त है, निर्ग्रन्थ है और आत्मस्वरूप में लीन रहता है।

**किं दुर्लभं नृजन्म, प्राप्येदं भवति किं च कर्तव्यम्।
आत्महितमहितसङ्गत्यागो रागश्च गुरुवचने॥**

दुर्लभ क्या है? मनुष्य जन्म। इसे प्राप्त करके क्या करना चाहिए? आत्मा का हित, अहितकर लोगों की संगति का त्याग और गुरु के उपदेश में अनुराग।

चिन्तन की स्वच्छता स्वास्थ्य के लिए अनिवार्य

पं. श्रीराम शर्मा आचार्य

पिछली भूलों का परि-मार्जन, वर्तमान का परिष्कृत निर्धारण एवं उज्ज्वल भविष्य का निर्माण यदि सचमुच ही अभीष्ट हो, तो इसके लिये विचार संस्थान पर दृष्टि जमानी चाहिए। इस मान्यता को सुस्थिर करना चाहिए कि समस्त समस्याओं का उद्गम भी यहीं है और समाधान भी इसी क्षेत्र में सन्निहित है। यह सोचना सही नहीं है कि धन-वैभव के बाहुल्य से मनुष्य सुखी एवं समुन्नत बनता है। इसलिये सब कुछ छोड़कर उसी का अधिकाधिक अर्जन जैसे भी संभव हो, करना चाहिए, इस भ्रान्ति से जितनी जल्दी छुटकारा पाया जा सके, उतना ही उत्तम है।

शरीर की बलिष्ठता और चेहरे की सुन्दरता का अपना महत्त्व है। धन की भी उपयोगिता है और उसके सहारे शरीर यात्रा के साधन जुटाने में सुविधा रहती है। इतने पर भी यह तथ्य भुला नहीं दिया जाना चाहिए कि व्यक्तित्व का स्तर और स्वरूप, चिन्तन क्षेत्र के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। व्यक्तित्व का स्तर ही वस्तुतः किसी के उत्थान-पतन का आधारभूत कारण होता है। उसी के अनुरूप भूतकाल बीता है, वर्तमान बना है और भविष्य का निर्धारण होने जा रहा है। उसकी उपेक्षा करने पर भारी घाटे में रहना पड़ता है। स्वास्थ्य का, शिक्षा का, प्रतिभा का, सम्पदा का, पद अधिकार का, कितना ही महत्त्व क्यों न हो, पर उनका लाभ मात्र सुविधा संवर्धन तक सीमित है। यह सम्पदा अपने लिये और दूसरों के लिये मात्र निर्वाह सामग्री ही जुटा सकती है, पर इतने भर से बात बनती नहीं, आखिर शरीर ही तो व्यक्तित्व नहीं है, आखिर सुविधाएँ मिल भर जाने से ही तो सब कुछ सध नहीं जाता, कुछ इससे आगे भी है। यदि न होता तो साधन

अनुकूलताएँ और प्रतिकूलताएँ धूप-छाँव की तरह आती-जाती रहती हैं। उनमें से एक भी चिरस्थायी नहीं होती। सामने आने वाली परिस्थिति का समाधान ढूँढने के लिये और भी अधिक सूझ-बूझ की, साहस एवं पुरुषार्थ की आवश्यकता पड़ती है। उन्हें जुटाने के लिये मनोबल तगड़ा रहना चाहिए, अन्यथा निराशा, चिन्ता, भय जैसी कुकल्पनाएँ घिर जाने पर तो हाथ-पैर फूल जाते हैं, कुछ करते-धरते नहीं बन पड़ता है। फलतः अपने ही बुने जाल में मकड़ी की तरह फँसकर अकारण कष्ट सहना पड़ता है। जो इनसे बचता है, वह अक्षुण्ण स्वास्थ्य का श्रेयाधिकारी बनता है।

सम्पन्न ही सब कुछ बन गये होते, तब महामानवों की कहीं कोई पूछ न होती, न आदर्शों का स्वरूप कहीं दृष्टिगोचर होता और न मानवी गरिमा का प्रतिनिधित्व करने वाले महामानवों की कहीं आवश्यकता-उपयोगिता समझी जाती।

समझा जाना चाहिए कि व्यक्ति या व्यक्तित्व का सार-तत्त्व उसके मनःसंस्थान में केन्द्रीभूत है। अन्तःकरण, अन्तरात्मा आदि नामों से इसी क्षेत्र का वर्णन-विवेचन किया जाता है। शास्त्रकारों ने 'मन एवं मनुष्याणां कारणं बंध मोक्षयोः' 'आत्मेव आत्मनः बन्धु आत्मैव रिपुरात्मनः' 'उद्देतात्मनात्मानम् नात्मानम् अवसादयेत्' आदि अभिवचनों में एक ही अंगुलि-निर्देश किया है कि मन के महत्त्व को समझा जाये और उसके निग्रह के, परिशोधन-परिष्कार के निमित्त संकल्पपूर्वक साधनारत रहा जाये। मन को जानने की उपमा विश्व-विज्ञान से दी गई है, जो अपने ऊपर शासन कर सकता है, वह सबके ऊपर शासन करेगा, इस कथन में बहुत कुछ तथ्य है।

मन का, आत्मा का, जो निरूपण किया जाता है उसे एक शब्द में विचारणा का स्तर ही कहना चाहिए। मान्यताएँ, भावनाएँ, आस्थाएँ इसी क्षेत्र की गहरी परतें हैं। कल्पना, विवेचना, धारणा इसी क्षेत्र में काम करती हैं। सम्मान, आदत, स्वभाव की खिचड़ी इसी

चूल्हे पर पकती है। लगने को यह भी लगता है कि विचार बिना बुलाये आते हैं और अनचाहे ही चढ़ दौड़ते हैं पर वास्तविकता ऐसी नहीं है। हम कोई दिशा-धारा निर्धारित करते हैं और उस सरिता में तदनुरूप लहरें उठने लगती हैं।

भीतरी हेर-फेर का बाह्य क्रिया-कलापों और परिस्थितियों में परिवर्तन होना सुनिश्चित है। मनःस्थिति के अनु-

रूप परिस्थिति के बदल जाने की बात को सभी विज्ञान एक स्वर से स्वीकार करते हैं। अस्तु, परिस्थितियों को बदलने के निमित्त मनःस्थिति को बदलना प्राथमिक उपचार की तरह माना गया है। विचारों में मूढ़ता भरी रहने पर, भ्रान्तियों और विकृतियों के अम्बार लगे रहने पर यह सम्भव नहीं कि किसी को गई-गुजरी स्थिति में पड़े रहने से छुटकारा मिल सके। जिसका भाग्य बदलता है, उसके विचार बदलते हैं। विचार बदलने से मतलब है - अवांछनीयताओं की खोज-कुरेद और जो भी अनुपयुक्त है, उसे बुहार फेंकने का साहस भरा निश्चित।

यहाँ एक तथ्य और भी स्मरण रखने योग्य है कि मात्र कुविचारों का समापन ही सब कुछ नहीं है। एक कदम उठाने, दूसरा बढ़ाने के उपक्रम के साथ ही यात्रा आरम्भ होती है। छोड़ने पर खाली होने वाले स्थान को रिक्त नहीं रखा जा सकता। उस स्थान पर नई स्थापना भी तो होनी चाहिए। अनौचित्य के अनुकूलन के साथ ही औचित्य का संस्थापन भी आवश्यक है। आपरेशन से मवाद निकालने के उपरान्त घाव भरने के लिये तत्काल मरहम-पट्टी भी तो करनी पड़ती है। कुविचारों की विकृत आदतों का निराकरण तब हो सकता है, जब उस स्थान पर सत्प्रवृत्तियों को प्रतिष्ठित कर दिया जाए, अन्यथा घोंसला खाली पड़ा रहने पर

चमगादड़ न सही, अबाबील रहने लगेगा।

दुष्प्रवृत्तियाँ, अवांछनीय आदतें, कुविचारणाएँ बहुत समय तक अभ्यास में सन्निहित रहने पर स्वाभाविक प्रतीत होने लगती हैं, निर्दोष लगती हैं और कभी-कभी तो उचित एवं आवश्यक दिखने लगती हैं। उनके प्रति पक्षपात बनता है और मोह जुड़ता देखा गया है। ऐसी दशा में उसे ढूँढ़ निकालना और यह समझ सकना तक कठिन पड़ता है कि उनसे कुछ हानियाँ भी हैं या नहीं। इसका निश्चय श्रेष्ठ, सज्जनों और दुष्ट दुर्जनों की सद्गति एवं दुर्गति का पर्यवेक्षण करते हुए किया जा सकता है। जो दुष्प्रवृत्तियों को अपनाते रहे, हेय जनों जैसी मनःस्थिति में संतुष्ट रहे, अचिन्त्य चिन्तन में निरत रहे, उन्हें ठोकरें खाते और ठोकरें मारते हुए ही दिन काटने पड़े हैं, जिनने प्रगति की बात सोची और वरिष्ठता के लिये आकांक्षा जगाई, उन्हें साथ ही वह निर्णय भी करना पड़ता है कि व्यक्तित्व का स्तर उठाने वाली विचार प्रक्रिया को अपनाने, स्वभाव का अंग बनाने में कोई कसर न रहने दी जायेगी।

इस संदर्भ में सर्वप्रथम उन आदतों से जूझना चाहिए जो एक प्रकार से अपंग स्थिति में डाले रखने के लिये उत्तरदायी हैं। पक्षाघात पीड़ितों, अपंगों, अशक्तों की तरह हीनता के विचार भी ऐसे हैं, जिनके रहते किसी का भी पिछड़ेपन से पिंड छूटना असम्भव है। 'लो ब्लड प्रेशर' के मरीज ऐसे पड़े रहते हैं, जैसे लंघन करने वाले ने चारपाई पकड़ ली हो और करवट बदलना तक कठिन हो रहा हो। आलसियों की, अकर्मण्यों की गणना ऐसे ही लोगों में होती है। वे समर्थ होते हुए भी असमर्थ बनते हैं, निरोग होते हुए भी रोगियों की चारपाई में जा लेटते हैं। आरामतलबी, काहिली, कामचोरी, हरामखोरी ऐसी ही मानसिक व्यथा है, जिसके कारण बहुत कुछ कर सकने में समर्थ व्यक्ति भी अपंग-असमर्थों की तरह दिन गुजारता है। ढेरों समय खाली होने पर भी महिलाओं की तरह उसे जैसे-तैसे काटता है, जबकि उन क्षणों का किन्हीं उपयोगी कामों में नियोजन करने के उपरान्त कुछ ही समय में अतिरिक्त योग्यता का धनी बना जा सकता है, सक्षमों, सुयोग्य प्रतिभावानों और सुसम्पन्नों की पंक्ति में खड़ा हुआ जा सकता है।

'आलस्य' शरीर को स्वेच्छापूर्वक

अपंग बनाकर रख देने की प्रक्रिया है। इसी प्रकार प्रमाद मन को जकड़ देने वाली रीति-नीति है। प्रमादी सोचने का कष्ट सहन करना नहीं चाहता है, जो चल रहा है, उसी से समझौता कर लेता है। नया कुछ सोच न सकने पर, नया साहस न जुटा सकने पर, प्रगति की सुखद कल्पनाएँ करते रहना, शेखचिल्ली की तरह उपहासस्पद बनना है। आलसी उन कामों को नहीं करते, जो बिना कठिनाई के तत्काल किये जा सकते थे। इसी प्रकार प्रमादी उतार-चढ़ावों के सम्बन्ध में कुछ भी सोचने का कष्ट नहीं उठाते। मात्र जिस-तिस पर दोषारोपण करते हुए, दुर्भाग्य का रोना रोते हुए मन हल्का करते रहते हैं, जबकि दोष उनका अपना होता है। परिस्थितियों को बदलने-सुधारने के लिये जिस सूझ-बूझ, धैर्य संतुलन, साहस एवं प्रयास की आवश्यकता पड़ती है, उसे जुटा न पाने का प्रतिफल यह होता है कि अनीति जड़ जमा लेती है। पिछड़ापन ऐसा सहचर बनकर बैठ जाता है, जिसे हटाने या बदलने जैसी कोई बात बनती ही नहीं। अस्तव्यस्त विचारों को यदि वर्तमान को सुधारने वाले उपाय ढूँढ़ने में लगाया जा सके और वर्तमान परिस्थितियों से तालमेल बिठाते हुए अगला कदम क्या हो सकता है, यदि इस पर व्यावहारिक दृष्टि से चिन्तन किया जा सके तो प्रगति पथ पर बढ़ चलने का कोई मार्ग अवश्य मिलेगा, पर जिसने पत्थर जैसी जड़ता अपना ली है, उसे रचनात्मक प्रयासों में लग पड़ने के लिए न आलस्य छूट देता है न विचारों की असंगत उड़ानों से विरत करके कुछ व्यावहारिक उपाय सोचने की सुविधा, प्रमाद की खुमारी रहते बन पड़ती है। वस्तुतः प्रगतिशीलता के यही दो अवरोध चट्टान की तरह उड़ते हैं। इन्हें हटाये बिना कोई गति नहीं, कोई प्रगति नहीं।

मनुष्य को हीन बनाने वाले मनोविकारों में उदासी और निराशा प्रमुख हैं। पेट भरने के बाद नदी की बालू में लोट-पोट करने वाले मगर और उदरपूर्ति के उपरान्त कीचड़ में मस्त होकर पड़े रहने वाले वराह को फिर दिन-दुनिया की कोई सुध नहीं रहती। जब बासी पच जाता है और झोले में खालीपन प्रतीत होता है, तभी वे उठने और कुछ करने की बात सोचते हैं। 'पंछी करें न चाकरी, अजगर करे न काम', का उदाहरण बनकर जो समस्त कामनाओं से रहित परमहंसों की तरह दिन

गुजारते हैं और 'राम भरोसे जो रहे पर्वत पै हरियाय' के भाग्य भरोसे जो समय काटते हैं, उन्हें 'ना काहू सों दोस्ती ना काहू सो बैर' वाली स्थिति रहती है। वे न कल की सोचते हैं न परसों की। उस उदासीन सम्प्रदाय का दर्शन अपनाने वालों के लिये प्रगति और अवगति से कुछ लेना-देना नहीं होता, मुट्ठी बाँधकर आते और हाथ पसारकर चले जाते हैं, न शुभ की आकांक्षा, न अशुभ की उपेक्षा-ऐसी उदासीनता पिछड़े और गये-गुजरे स्तर का प्रतीक है।

निराशा इससे बुरी है, वह सोचती भी है और चाहती भी, किन्तु साथ ही अपनी असमर्थता, भाग्य की मार, परिस्थितियों की प्रतिकूलता, साथी की बेरुखी जैसी निषेधात्मक संभावनाओं पर ध्यान केन्द्रित करती है और कदम उठाने से पहले ही असफल रहने का दृश्य देखती और हार मान लेती है। ऐसे लोग उदास रहने वालों की अपेक्षा अधिक दिन-हीन स्थिति में होते हैं और संतोष भी हाथ से गँवा बैठते हैं।

अशुभ की आशंका जिन्हें डराती रहती है, वे चिन्तातुर पाये जाते हैं। कुछ चाहते तो हैं किन्तु सूझबूझ और पुरुषार्थ के अभाव को परिस्थितिजन्य गतिरोध मान बैठते हैं। अपने को ऐसे चक्रव्यूह में फँसा पाते हैं, जिसमें से बच निकलने का रास्ता अवरुद्ध पाते हैं, इस स्तर के व्यक्ति चिन्तातुर देखे जाते हैं, घबराहट में सिर धुनते हैं, हड़बड़ी में कुछ का कुछ कहते, कुछ करते और सोचते हैं, वह सब बेतुका होता है। अपनी परेशानी साथियों के सामने इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं, मानो आकाश टूटकर उन्हीं पर गिरा हो। यों इस कथन में उनका प्रयोजन सहायता न सही, सहानुभूति पाने का तो होता ही है पर वे यह भूल जाते हैं कि हारते का सभी साथ छोड़ देते हैं। मित्र भी कन्नी काटने लगते हैं। इस दुनिया में सफल, साहसी और समर्थ को ही साथियों का सहारा मिलता है। डूबते को देखकर लोग दूर रहते हैं, ताकि चपेट में आकर कहीं उन्हें भी न डूबना पड़े। उदार-परोपकारी तो जहाँ-तहाँ उँगलियों पर गिनने जितनी संख्या में ही पाये जाते हैं। ऐसी दशा में चिन्तातुर, निराश, भयभीत, संत्रस्त, कायर, दुर्बल होने की दुहाई देने के नाम पर यदि सहानुभूति अर्जित करना चाहता हो तो भी उसे नहीं के बराबर सफलता मिलेगी। जो

मिलेगी, वह भी उथली एवं व्यंग्य-तिरस्कार से भरी हुई होगी। सहायता तो कहीं से कदाचित् ही मिल सके। यह भी हो सकता है जिनसे सामान्य स्थिति में थोड़ी-बहुत सहायता की आशा थी, उससे भी हाथ धोना पड़े।

अपने आपको कमजोर करने और गिराने का यह अवसाद-उपक्रम जिसने भी अपनाया है, वे घाटे में रहे हैं। मनोबल को गिराना भी धीमी आत्महत्या है, जो रोग-निवारण, अर्थ-उपार्जन, सौभाग्य-संवर्धन, संकट-निवारण जैसे अगठित महत्त्वपूर्ण कार्यों में अजस्र सहयोग प्रदान करता है। गिराने, थकाने और खोखला बनाने वाले उपर्युक्त मनोविकारों में चिन्तन का निषेधात्मक प्रवाह ही आधारभूत कारण होता है। जैसा सोचा होता है, उसमें वास्तविकता का नगण्य-सा ही अंश रहता है। कुकल्पनाओं का घटाटोप ही, 'शंका डाक मनसामते' की

उक्ति चरितार्थ करता है। कुकल्पनाओं के अँधेरे में झाड़ी की आकृति भूत जैसी बन जाती है। साहस और विवेक की मात्रा घट जाने पर ऐसे अनगढ़ विचार उठने लगते हैं, जिनसे विपत्ति का आक्रमण और उसके कारण विनाश का भयावह दिवास्वप्न आँखों के सामने तैरने लगता है।

जब कल्पना-जगत में बेपर की उड़ानें ही उड़नी हैं तो फिर उन्हें विधेयात्मक स्तर की क्यों न गढ़ा जाय? असफलता के स्थान पर सफलता का स्वप्न देखने में क्या हर्ज है? संकट के न आने और उसके स्थान पर सुखद संभावनाओं के आगमन की बात सोचने में भी कोई अड़चन नहीं होनी चाहिए। यथार्थता तो समय पर ही सामने आती है। आशंका तो कल्पना पर आधारित हो सकती है, सो भी मनगढ़न्त। जब गढ़ना ही रहा तो भूत क्यों गढ़ा जाय, देवता की संरचना करने में भी तो उतनी ही शक्ति लगेगी। डर वास्तविक

नहीं होते। जितने संकट अनगढ़ मस्तिष्क द्वारा सोचे जाते हैं, देखा गया है, उनमें से आधे-चौथाई भी सामने नहीं आते। काली घटाएँ सदा बरसने वाली ही नहीं होतीं।

अनुकूलताएँ और प्रतिकूलताएँ धूप-छाँव की तरह आती-जाती रहती हैं। उनमें से एक भी चिरस्थायी नहीं होती। सामने आने वाली परिस्थितियों का समाधान ढूँढने के लिये और भी अधिक सूझबूझ की, साहस एवं पुरुषार्थ की आवश्यकता पड़ती है। उन्हें जुटाने के लिये मनोबल तगड़ा रहना चाहिए अन्यथा निराशा, चिन्ता, भय जैसी कुकल्पनाएँ घिर जाने पर तो हाथ-पैर फूल जाते हैं, कुछ करते-धरते नहीं बन पड़ता है, फलतः अपने ही बुने जाल में मकड़ी की तरह फँसकर अकारण कष्ट सहना पड़ता है। जो इनसे बचता है, वह अक्षुण्य स्वास्थ्य का श्रेयाधिकारी बनता है।

नीरोग जीवन के महत्त्वपूर्ण सूत्र से साभार

आतंकवाद और आणविक शक्तियों को पराजित करने का एकमात्र उपाय : अहिंसा

गोटेगाँव (श्रीधाम)। सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास तथा उत्थान के लिये अग्रगण्य सेवाभावी न्यास श्री सिंघई फकीरचंद गुणवती देवी जैन चेरिटेबिल ट्रस्ट द्वारा दिनांक 5.10.2001 को न्यास के वार्षिक समारोह के अवसर पर प्रादेशिक अहिंसा सम्मेलन सम्पन्न हुआ। सिंघई छतारे लाल जैन मंदिर के सुसज्जित विशाल सभा भवन में आयोजित इस गरिमामय सम्मेलन की अध्यक्षता प्रशासनिक संस्थान, जबलपुर के संचालक प्रसिद्ध समाज सेवी श्री नरेश गढ़वाल ने की। भगवान महावीर स्वामी के 2600वें जन्म जयंती वर्ष एवं गाँधी जयंति सप्ताह में आयोजित इस समारोह के मुख्य अतिथि राष्ट्रीय शोध संस्थान, श्रवण वेलगोला (कर्नाटक) के पूर्व डायरेक्टर जैन जगत् के मूर्धन्य मनीषी डॉ. भागचन्द्र जैन 'भागोन्दु' दमोह, तथा विशिष्ट अतिथि रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर के हेड ऑफ द डिपार्टमेंट डॉ. हीरालाल जैन, संस्कृत-पालि-प्राकृत विभाग के प्रोफेसर डॉ. राजेन्द्र त्रिवेदी और गोटेगाँव के नगर पंचायत के अध्यक्ष श्री राजकुमार जैन थे।

जबलपुर से सभागत भजन गायिका श्रीमती संगीता जैन के मंगलाचरण से प्रारंभ इस कार्यक्रम के प्रथमचरण में अहिंसा संस्कृति के सम्बद्धक जैन धर्म के अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर के चित्र के समक्ष अहिंसा-ज्ञान दीप का दीपन मुख्य अतिथि एवं अध्यक्ष के द्वारा किये जाने के उपरान्त मंचासीन सभी अतिथियों तथा सभागत विशिष्ट महानुभावों के द्वारा राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी और जिनकी पुण्य स्मृति में न्यास संस्थापित है उन सिं. फकीरचंद गुणवती देवी के चित्रों पर पुष्पमाल्य/पुष्पाञ्जलि समर्पित की गयी। न्यास का परिचय गोटेगाँव समाज के गौरव श्री चौधरी सुरेश चन्द्र जी ने प्रस्तुत किया। न्यास की गतिविधियों एवं प्रवृत्तियों का लेखाजोखा न्यास के युवा

अध्यक्ष श्री अनिल कुमार सिंघई ने प्रस्तुत किया।

विशिष्ट अतिथि डॉ. राजेन्द्र त्रिवेदी ने अहिंसक संस्कृति का महत्त्व निरूपित कर उसकी अपरिहार्य उपदेयता पर प्रकाश डाला।

मुख्य अतिथि मध्यप्रदेश शासन संस्कृत अकादमी, भोपाल के पूर्व सचिव डॉ. 'भागोन्दु' जैन अपने प्रभावक प्रेरक उद्बोधन में हिंसा के प्रकार, भेद और विविध रूपों के माध्यम से उनकी दानवी लीला का पर्दाफाश कर अहिंसा का स्वरूप समझाया। अहिंसा को धर्म, श्रेष्ठ कर्म और सर्वोदय की उदात्त योजना से संश्लिष्ट महाशक्ति पुंज, संरक्षक अस्त्र निरूपित किया। उन्होंने आतंकवाद और आणविक महाविनाश से विश्व की सुरक्षा का अमोघ अस्त्र अहिंसा को विस्तारपूर्वक सोदाहरण समझाकर इस महनीय सम्मेलन के आयोजन के लिये ट्रस्ट की भूरि-भूरि सराहना की। ट्रस्ट के समीचीन विकास के लिये अपनी मंगलकामनाएँ अर्पित कर अनेक उपयोगी सुझाव भी दिये। श्री नरेश गढ़वाल ने अपने अध्यक्षीय उद्बोधन में सिंघई फकीरचंद जी के अनेक प्रेरक संस्मरण और लोकोपकारी विराट व्यक्तित्व की विवेचना कर ट्रस्ट को अपनी मंगलकामनाएँ दी।

कार्यक्रम के बीच-बीच में अहिंसा प्रेमी भगवान महावीर एवं राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी जी से संबंधित अनेक गीतों-भजनों की सरस और प्रभावक प्रस्तुति द्वारा श्री अवधेश बेंटिया तथा सौ. संगीता जैन ने अर्धरात्रि पर्यन्त श्रोताओं को भावविभोर किया।

प्रारंभ से आभार प्रदर्शन तक कार्यक्रम का कुशल संयोजन अनेक संस्थाओं से सम्बद्धित, इस ट्रस्ट के न्यासी और दमोह जैन पंचायत के अध्यक्ष श्री वीरेन्द्र कुमार इटोरया ने की। इस प्रतिष्ठापूर्ण कार्यक्रम का सफल संचालन श्री अजित कुमार एडवोकेट, जबलपुर ने किया।

अनिल जैन

अहो जगत् गुरु

पंडित भूधरदास जी

अहो जगत् गुरु देव, सुनिये अरज हमारी।

तुम प्रभु दीन दयाल, मैं दुखिया संसारी॥

शब्दार्थ- अरज= विनती, दीनदयाल = दीनों पर दया करने वाले।

अर्थ - हे तीनों लोगों के गुरु भगवन्, आप तो दीनों पर दया करने वाले हैं। मैं संसार का दुखी प्राणी हूँ। आप हमारी विनती को सुनो।

इस भव वन के माहिं, काल अनादि गमायो।

भ्रम्यो चहूँगति माहिं, सुख नहिं, दुख बहु पायो॥

शब्दार्थ - भव= संसार, भ्रम्यो = घूमता हूँ।

अर्थ - इस संसार रूपी वन में अनादि काल से मैं घूम रहा हूँ और चारों गति में सुख नहीं, दुःख बहुत पाया है।

कर्म महारिपु जोर, एक न कान करें जी।

मन माने दुख देहिं, काहूँसों नाहिं डरै जी॥

शब्दार्थ- महारिपु = बलवान शत्रु, कान= सुनना, मनमाने= अनेक प्रकार के।

अर्थ - हे प्रभु! ये कर्म मेरे बहुत बलवान शत्रु हैं, एक भी बात नहीं सुनते हैं। ये कर्म अनेक प्रकार से दुखों को देते हैं। और ये किसी से भी डरते नहीं हैं।

कबहूँ इतर निगोद, कबहूँ नर्क दिखावै।

सुर-नर-पशुगति माहिं, बहुविधि नाच नचावै॥

शब्दार्थ- नाच नचावै= भटकाते हैं।

अर्थ - (ये कर्म) कभी इतर निगोद में, कभी नरक में, कभी देव, तिर्यच और मनुष्य पर्याय में अनेक प्रकार से भटका रहे हैं।

प्रभु इनको परसंग, भव भव माहिं बुरो जी।

जे दुःख देखे देव! तुमसों नाहिं दुरो जी॥

शब्दार्थ- परसंग= पराधीनता, बुरो= कष्ट सहन, दुरो= छिपा।

अर्थ - हे प्रभु! इन कर्मों की पराधीनता के कारण ही संसार में कष्ट सहन कर रहा हूँ। हे प्रभु! मैंने जो दुःख सहे हैं वे आपसे छिपे नहीं हैं। आप सब जानते हैं।

एक जन्म की बात, कहि न सको सुनि स्वामी।

तुम अनन्त पर जाय, जानत अन्तर्यामी॥

अर्थ - हे अन्तर्यामी! मैं तो अपने एक पर्याय के दुखों को भी नहीं कह सकता, लेकिन आप तो त्रिकालवर्ती अनन्त पर्यायों को जानते हैं।

मैं तो एक अनाथ, ये मिल दुष्ट घनेरे।

कियो बहुत बेहाल, सुनियो साहिब मेरे॥

शब्दार्थ- अनाथ = अकेला, घनेरे-समूह, बेहाल= बुरा हाल, साहिब= प्रभु।

अर्थ - हे प्रभु! मैं तो एक अकेला हूँ, और ये कर्म बहुत एकत्र हो गये हैं, इन्होंने मेरा बुरा हाल कर दिया है। हे भगवन्! मेरी विनती सुनो।

ज्ञान महानिधि लूटि, रंक निबलकरि डार्यो।

इनकी तुम मुझ माहिं, हे जिन, अंतर पार्यो॥

शब्दार्थ- पार्यो - डाल दिया है।

अर्थ - हे प्रभु! इन कर्मों ने हमारे ज्ञानरूपी उत्कृष्ट खजाने को लूट कर मुझे कमजोर बना दिया है, और इन कर्मों ने ही हममें और आपमें अंतर कर दिया है।

पाप-पुण्य मिल दोय, पायनि बेड़ी डारी।

तन कारागृह माहिं, मोहि दियो दुःख भारी॥

शब्दार्थ- पायनि= पैरों में, बेड़ी= जंजीर, डारी=डाल रखी है।

अर्थ - हे प्रभु! पाप और पुण्य इन दोनों ने मेरे पैरों में जंजीर डाल रखी है एवं शरीररूपी जेल में रोककर मुझे बहुत दुःख दिया है।

इनको नेक बिगार, मैं कछु नाहिं कियो जी।

विन कारन जगवंद्य! बहुविधि बैर लियो जी॥

शब्दार्थ- नेक = रंच मात्र भी।

अर्थ - हे प्रभु! इन कर्मों का मैंने रंच मात्र भी बुरा नहीं किया है। हे जगत् पूज्य भगवन्! बिना कारण के ही ये कर्म अनेक प्रकार से हमारे शत्रु बने हुए हैं।

अब आयो तुम पास, सुनकर सुजस तिहारो।

नीतिनिपुण महाराज, कीजै न्याय हमारो॥

शब्दार्थ- सुजस = ख्याति, तिहारो = आपकी।

अर्थ - हे प्रभु! आपकी ख्याति सुनकर मैं यहाँ आपके पास आया हूँ। हे नीति-न्याय करने वाले प्रभु हमारा न्याय कीजिए।

दुष्टन देहु निकार, साधुन को रख लीजै।

विनवै 'भूधरदास' हे प्रभु! ढील न कीजै॥

शब्दार्थ - ढील = देरी, देहु = दीजिए।

अर्थ - हे प्रभु! दुष्ट कर्मरूपी शत्रुओं को हमारे अंदर से निकाल कर, अच्छे गुण रूपी साधुओं को मुझमें रहने दें। मैं (भूधरदास) आप से विनती करता हूँ कि हे प्रभु! इस कार्य में बिलकुल देरी न कीजिए।

ब्र. महेश

श्रमण संस्कृति संस्थान, सांगानेर (जयपुर)

वह लाजवाब है

(आचार्य श्री विद्यासागर का एक शब्दचित्र)

नरेन्द्रप्रकाश जैन
सम्पादक - जैन गजट

वह मुनिगण-मुकुट है
उसका कोई जवाब नहीं
वह लाजवाब है

●
वह सैकड़ों में अकेला है
अलबेला है
उसका कोई जोड़ नहीं
वह तो बस, वह ही है

●
वह भला है
भोला है
भद्र भावों से भरा है
खरा है
वदन का इकहरा है
छरहरा है
उम्र से (अब भी) जवान है
साधक महान् है
भूखा है ज्ञान का
शत्रु है अभिमान का
भुलावों से दूर है
तपश्चरण में शूर है

●
उसका चिन्तन मौलिक है
उसकी वार्ता अलौकिक है
विचारों में उदारता है
प्रामाणिकता है
शालीनता है
सर्वजनहितैषिता है

साम्प्रदायिकता से वह परे है
संकीर्णता के घेरों से मुक्त है

●
वह आत्मजयी है
आत्मकेन्द्रित है
नासादृष्टि है
निजानन्द-रसलीन है
मोह-माया-मत्सर विहीन है
उसे लुभाती नहीं है
बाहरी दुनिया की चमक
उसके स्वभाव में है
एक स्वाभिमानी की ठसक
उसके सबसे बड़े गुण हैं -
अनासक्ति और निःस्पृहता
क्षमाशीलता और समता
निर्ममता और निर्भयता

●
वह आलोक - पुंज है
ज्ञान - दीप है
ज्योति - पुरुष है
विराजी रहती है प्रतिक्षण
उसके चेहरे पर
एक निर्मल-निश्छल मुस्कान
उसकी हर छवि है अम्लान
उसका नहीं है जवाब
वह है लाजवाब

'तीर्थकर' नव.दिस. 1978 से साभार
104, नईबस्ती, फिरोजाबाद (उ.प्र.)

पू. विदुषी आर्यिका विशुद्धमती माताजी सल्लेखना की ओर

राजस्थान प्रांत के श्री तीर्थक्षेत्र नंदनवन धरियावद में विराजमान विदुषी आर्यिका श्रीविशुद्धमती माताजी ने 1990 में 12 वर्ष की अवधि का सल्लेखना व्रत समाधिस्थ आचार्य श्री अजितसागर जी महाराज से ग्रहण किया था। पूज्य माताजी अभी तीसरे दिन आहार को उठती हैं और केवल रस ग्रहण करती हैं। माताजी की चेतना एवं उपयोग शक्ति ठीक चल रही है। अपने धर्म ध्यान में आरूढ़ होकर दर्शनार्थियों को समय-समय पर आशीर्वाद देती हैं। निर्यापकाचार्य श्री वर्द्धमानसागर जी महाराज धरियावद गाँव में संसंध विराजमान हैं। उनके आशीर्वाद से संघस्थ मुनि श्री पुण्यसागर जी, मुनि श्री सौम्यसागर जी एवं चार माताजी नंदनवन में हैं। आचार्यश्री भी समय-समय पर नंदन वन पहुँचकर पूज्य माताजी को आशीर्वचनों से संबोधित करते हैं।

मुझे तीन दिन पूज्य माताजी के चरण सान्निध्य में रहकर धर्म ध्यान का अवसर प्राप्त हुआ। श्री तीर्थक्षेत्र नंदन वन के लिए उदयपुर, प्रतापगढ़, बांसवाड़ा से हर समय बस सेवा उपलब्ध है एवं यात्रियों के आवास एवं भोजन की व्यवस्था प्रतिष्ठाचार्य श्री हंसमुख जी ने सुलभ करा रखी है।

सुरेश जैन मारौरा, शिवपुरी
जीवन-सदन, सरकिट हाऊस के पास, शिवपुरी

“शासन की सहभागिता इतिहास बनायेगी, कार्यों को मूर्त रूप समाज को देना होगा” गणिनी ज्ञानमतीजी

6 अप्रैल को ‘भगवान महावीर 2600वाँ जन्मकल्याणक महोत्सव वर्ष’ के राष्ट्रीय उद्घाटन के पश्चात् महोत्सव की दिगम्बर जैन राष्ट्रीय समिति का प्रथम अधिवेशन पूज्य गणिनी श्री ज्ञानमती माताजी (संसंध) के मंगल सान्निध्य में 7 अक्टूबर 2001, को श्री खण्डेलवाल दिगम्बर जैन मंदिर, राजा बाजार, कनाट प्लेस, दिल्ली में सफलता पूर्वक सम्पन्न हुआ।

इस अवसर पर पूज्य माताजी ने रचनात्मक एवं दूरगामी प्रेरणाएँ समाज को प्रदान कीं, जिनका करतल ध्वनि से स्वागत किया गया। पूज्य माता जी ने कहा कि शासन की आर्थिक सहभागिता तो इतिहास का निर्माण करने हेतु है ताकि आगामी पीढ़ी को यह संदेश प्राप्त होता रहे कि 2600वाँ जन्म कल्याणक वर्ष सरकारी स्तर पर भी मनाया गया था, मुख्य भूमिका तो अपने कार्यों के माध्यम से समाज को ही निभानी है। इस अवसर पर पूज्य माताजी ने भगवान महावीर की जन्मभूमि के रूप में कुण्डलपुर के विकास का आह्वान करते हुए वैशाली को स्मारक के रूप में विकसित करने की भावना प्रस्तुत की। राजधानी दिल्ली में दिगम्बर जैन समाज के एक ‘राष्ट्रीय सूचना केन्द्र’ की स्थापना, स्थान-स्थान पर कीर्तिस्तम्भों, भगवान महावीर द्वार, भगवान महावीर जन्मकल्याणक सम्बन्धी बोर्ड लगाने

की प्रेरणा प्रदान करते हुए पूज्य माताजी ने कहा कि अस्थायी धर्मप्रभावना के आयोजनों के माध्यम से ही स्थायी योजनाओं की नींव पड़ती है। पूज्य माताजी ने कहा कि इस आयोजन की सफलता इसी में है कि समस्त दिगम्बर जैन समाज संगठित हो।

प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चन्दनामती माताजी ने कहा कि इस महोत्सव वर्ष में अब तक दिगम्बर जैन परम्परा के साधु-साध्वियों ने अपने-अपने स्तर पर महत्त्वपूर्ण कार्य किये हैं, उन सभी की गणना होनी चाहिए। पूज्य माताजी ने सर्व जैन-सम्प्रदायों को निर्विवाद रूप से मान्य भगवान महावीर के जन्मकल्याणक सम्बन्धी एक झाँकी 26 जनवरी की परेड में सरकारी रूप से निकलवाने हेतु महत्त्वपूर्ण सुझाव प्रस्तुत किया, जिसका सभी ने करतल ध्वनि से स्वागत किया।

आज की सभाध्यक्ष साहू इन्दु जैन ने युवाओं को आगे बढ़ने के लिये प्रोत्साहन प्रदान करते हुए महावीर केन्द्र द्वारा ‘युवा फैडरेशन’ के निर्माण का प्रस्ताव रखा। सभा के प्रारंभ में दीप प्रज्वलन के पश्चात् श्रीमती कुसुमलता जैन ध.प. श्री महावीर प्रसाद जैन (संघपति), बंगाली स्वीट सेन्टर, दिल्ली द्वारा माल्यार्पण करके साहू इन्दु जी का सम्मान किया गया।

आज के अधिवेशन में 6 अप्रैल के उद्घाटन समारोह के पश्चात् पूज्य गणिनी श्री ज्ञानमती माताजी की प्रेरणा से प्रथम राष्ट्रीय आयोजन ‘विश्वशांति महावीर विधान’ के 21 से 28 अक्टूबर तक राजधानी दिल्ली में सम्पन्न होने की जानकारी विशेष रूप से सभा को प्रदान की गयी। कर्मयोगी ब्र. रवीन्द्रकुमार जी जैन ने सभी को इसमें भाग लेने हेतु प्रेरित किया।

डॉ. अनुपम जैन, इन्दौर ने जैन एवं प्राकृत विद्याओं के अध्ययन में राष्ट्रीय स्तर पर कार्यरत प्रमुख संस्थाओं की चर्चा करते हुए कहा कि दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान, जम्बूद्वीप-हस्तनापुर 250 से अधिक ग्रन्थों का प्रकाशन कर चुका है और अनेक राष्ट्रीय स्तर के राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय सेमिनारों-संगोष्ठियों इत्यादि का सफल आयोजन कर इसने अपनी विशिष्ट छवि निर्मित की है। डॉ. जैन ने इस अवसर पर कुंदकुंद ज्ञानपीठ, इंदौर एवं दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान- जम्बूद्वीप द्वारा शीघ्र प्रस्तुत की जाने वाली 5 विशिष्ट शोध-परियोजनाओं के विषय में अवगत कराया।

सभा का मंगलाचरण क्षुल्लक श्री मोतीसागर जी द्वारा किया गया। डॉ. धन्य कुमार जैन (संचालक) ने राष्ट्रीय समिति द्वारा पारित विविध कार्ययोजनाओं से समाज को अवगत कराया। साहू रमेशचन्द्र जैन, श्री कैलाश चन्द्र जैन सर्राफ (लखनऊ), श्री स्वदेश भूषण जैन आदि महानुभावों ने अपने विचार प्रस्तुत किये। इस अवसर पर पूज्य चन्दनामती माताजी द्वारा लिखित भजनों पर बनी कैसेट ‘भगवान महावीर जन्मकल्याणक’ एवं तीन पुस्तकों (महारानी त्रिशला के अनोखे सपने, भगवान महावीर व्रत एवं महावीर पूजा, भगवान महावीर प्रश्नोत्तरमालिका) का विमोचन भी किया गया। देश भर से पधारे गणमान्य कार्यकर्ताओं में डॉ. हुकुमचन्द भारिल्ल, श्री वसंत दोषी आदि विद्वानों ने भी सभा में भाग लिया।

ब्र.कु. स्वाति जैन
(संघस्थ)

शिवपुरी के सपूतों का आत्मीय मिलन-समारोह सम्पन्न

पूज्य मुनि श्री क्षमासागर जी एवं पूज्य मुनि श्री भव्यसागर जी महाराज के सान्निध्य में शिवपुरी जिले के 15 गौरवशाली युवक/युवतियों का सम्मान जैन समाज, शिवपुरी एवं श्री नेमि दिगम्बर जैन ट्रस्ट, महावीर जिनालय द्वारा शॉल, श्रीफल, प्रशस्ति पत्र एवं स्मृति चिन्ह देकर किया गया। मंगलाचरण श्री डॉ. एच.पी. जैन द्वारा किया गया। सम्मानित अतिथियों ने मुनिद्वय को श्रीफल भेंट किये।

सम्माननीय अतिथियों में न्यायमूर्ति श्री निर्मल जैन इंदौर म.प्र. उच्च न्यायालय, श्री चन्द्रप्रकाश जैन बम्बई, चेयरमेन एन.टी.पी.सी. नई दिल्ली, श्री निर्मल जैन वाइस चेयरमेन जिंदल आयरन, श्री विजय जैन प्रोफेसर आई.आई.टी. कानपुर, श्री श्रवण कुमार जैन जिला एवं सत्र न्यायाधीश देवास, श्री पदमचन्द्र जैन वाइस प्रेसीडेंट केमीकल एवं फर्टिलाइजर लिमिटेड बैंगलोर, श्री प्रदीप रावत आई.एफ.एस. प्रथम सचिव भारतीय दूतावास मौरिशस, श्री कपिल रावत रीजनल जनरल मैनेजर कन्टेनर कार्पोरेशन आफ इंडिया लिमि., श्री अशोक जैन ए.डी.जे. रायसेन, श्री दिनेश जैन जनरल मैनेजर स्टेट बैंक आफ इंडिया भोपाल, श्री ओंकारलाल जैन आयकर अधिकारी ग्वालियर, डॉ. कोकिला जैन गायनिकालोजिस्ट इटारसी, डॉ. उमा जैन गायनिकालोजिस्ट शिवपुरी, डॉ. ओमप्रकाश अग्रवाल इन्टेक डायरेक्टर जनरल लखनऊ, श्री सुरेश जैन आई.ए.एस. भोपाल थे।

सर्वप्रथम न्यायमूर्ति श्री निर्मल जैन इंदौर ने राष्ट्रीय स्तर का महाविद्यालय शिवपुरी में खोलने हेतु सर्वसम्मति से विचार रखा। इसके लिये श्री निर्मल जैन मुम्बई ने कहा कि 50 लाख रुपये तक की राशि मैं मुम्बई से एकत्रित करूंगा, इतनी ही राशि आप स्थानीय तौर पर एकत्रित करें। तभी श्री चितामणि जी एडवोकेट कोलरस ने तत्काल 1 लाख रुपये की घोषणा की। सम्मान समारोह का संचालन श्री सुरेश जैन आई.ए.एस. भोपाल एवं संजीव बाझल ने किया।

आत्मीय मिलन समारोह के बाद पूज्य मुनिद्वय के आशीर्वचन हुए। जिसमें मुनि श्री क्षमासागर जी ने कहा कि परस्परता की भावना सारे देश में हो तो जीने का मजा ही और है। यदि हमारे भीतर सबके लिये जगह हो तो हम सबका जीवन श्रेष्ठ बन सकता है। हम प्राणीमात्र के लिये अपने हृदय में जगह बनायें।

28 अक्टूबर को राष्ट्रीय स्तर का जैन युवा प्रतिभा सम्मान समारोह भी शिवपुरी में पूज्य मुनिद्वय के सान्निध्य में आयोजित किया गया है। इसके लिये कक्षा 12 से 75% से अधिक अंक प्राप्त करने वाले छात्र/छात्राएँ अपनी अंकसूची श्री सुरेश जैन आई.ए.एस. 30, निशात कालोनी भोपाल या महावीर जैन मंदिर शिवपुरी को भेज दें।

सुरेश जैन मारौरा, शिवपुरी

सर्वोदय शिक्षण शिविर प्रारम्भ

परमपूज्य आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज के आशीर्वाद एवं मुनि श्री क्षमासागर जी एवं मुनि श्री भव्यसागर जी की प्रेरणा एवं सान्निध्य में सर्वोदय शिक्षण शिविर का उद्घाटन आज संपन्न हुआ। शिविर के लिये दीप प्रज्वलन विद्वान अतिथि पंडित श्री रतनचंद्र जी, भोपाल एवं श्रावक श्रेष्ठी शिविर के कुलपति श्री निरंजनलाल जी

बैनाड़ा, आगरा के द्वारा किया गया। तत्पश्चात् पंडित श्री रतनचंद्र जी, श्री निरंजन लाल जी बैनाड़ा, ब्रह्मचारी श्री संजीव भैया सांगानेर, ब्रह्मचारी श्री मोतीलाल जी कुम्हेर, ब्रह्मचारी भैया श्री विजय जी, ब्रह्मचारी भैया अरुण जी, ब्रह्म. भैया मनीष जी, ब्रह्म. बहिन उषा दीदी भरतपुर, ब्रह्म. बहिन मैना दीदी, शिवपुरी एवं श्री सुनील शास्त्री, आगरा ने सर्वप्रथम पूज्य मुनि द्वय को शिविर की सफलता हेतु श्रीफल भेंट किये। फिर जैन समाज की ओर से आमंत्रित विद्वान एवं ब्रह्मचारी भैया-बहिनों को तिलक लगाकर प्रशस्ति चिन्ह भेंट किये गये।

सर्वोदय शिक्षण शिविर के बारे में आदरणीय श्री बैनाड़ा जी ने अपना मार्मिक उद्बोधन दिया, 'जिनभाषित' पत्रिका के संपादक पं. रतनचंद्र जी, भोपाल ने मुनि वंदना, कर अपने उद्बोधन में वर्षायोग शिक्षण शिविर एवं 'जिनभाषित' के बारे में विचार व्यक्त किये और कहा कि मुनि श्री क्षमासागर जी के पास समयानुशासन, आत्मानुशासन, वचनानुशासन सभी प्रकार के अनुशासन मिलते हैं। उनका व्यक्तित्व सादगी से भरा है। उन्हें किसी प्रकार की आकांक्षा नहीं है, केवल समाज को समीचीन दिशा निर्देश देने की आकांक्षा है। वे प्रतिभासम्मान, गौशाला केन्द्र और पर्यावरण केन्द्र की स्थापना में अभिरुचि रखते हैं। मुनिश्री का सादगी से परिपूर्ण व्यक्तित्व सभी को आकृष्ट करता है।

मुनिश्री क्षमासागर जी ने अपने मंगल आशीष में अभीक्षण ज्ञानोपयोग का वर्णन करते हुए कहा कि यह तीर्थंकर प्रकृति का बंध कराने में सहयोगी है। ज्ञान, श्रद्धा और चारित्र्य दोनों को सम्हालने वाला है। जब हम ज्ञान के बारे में बात करें तो आत्म ज्ञान ही सर्वश्रेष्ठ है। जितनी ललक बच्चों में भौतिक ज्ञान प्राप्त करने के लिये होती है उतनी ही ललक आत्म ज्ञान प्राप्त करने के लिये होनी चाहिए। ध्वला जी में लिखा है कि जो आज सम्यग्ज्ञान संसार में तैरने की, संसार पार करने की कला है।

सर्वोदय शिक्षण शिविर में विभिन्न कक्षाओं में बालबोध (पूर्वाब्द व उत्तरार्द्ध), रत्नकरण्ड श्रावकाचार, द्रव्यसंग्रह, इष्टोपदेश, छहढाला एवं तत्त्वार्थसूत्र का अध्ययन कराया जा रहा है जिसमें 550 आबाल वृद्ध शिक्षार्थियों ने भाग लिया है। शिविर का समय प्रातः 6.00 से 9.00 तथा 9.00 से 10.00 तक मुनिद्वय के प्रवचन, दोप. 2.30 से 3.30 एवं सायं को 6.00 से 8.00 तथा रात्रि में 8.00 से 9.00 आमंत्रित विद्वान अतिथियों के प्रवचन होते हैं।

सुरेश जैन मारौरा, शिवपुरी

पारस जनकल्याण संस्थान का मैत्री दिवस सम्पन्न

पारमार्थिक शैक्षणिक एवं लोक कल्याण कार्य के लिये समर्पित पारस जन कल्याण संस्थान, भोपाल मध्यप्रदेश द्वारा वार्षिक विश्व मैत्री दिवस पर आयोजित प्रतिभा सम्मान समारोह प्रदेश के प्रथम नागरिक महामहिम राज्यपाल डॉ. भाई महावीर जी के मुख्य अतिथ्य में दिनांक 30.9.2001 को स्थानीय शासकीय कमला नेहरू कन्या उ.मा.विद्यालय तात्या टोपे नगर के विशाल सभागार में आयोजित किया गया। कार्यक्रम में विशेष अतिथि के रूप में नगर के प्रथम नागरिक महापौर भोपाल श्रीमती विभा पटेल एवं क्षेत्रीय पार्षद तथा नेता प्रतिपक्ष नगर निगम भोपाल श्री रामेश्वर शर्मा जी उपस्थित थे।

नमोऽस्तु



कविता

प्रो. (डॉ.) सरोजकुमार वर्तमान युग के सुप्रसिद्ध मूर्धन्य कवियों में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। उनका 'अंदाज-ए-बयाँ' गालिब की तरह कुछ और ही है। उनकी कविताएँ ध्वनिकाव्य के उत्कृष्ट नमूने हैं और उनमें व्यंग्य की तीखी चोट होती है। सरोजकुमार जी में शब्दों के व्यंजनात्मक प्रयोग की अद्भुत क्षमता है। वे लाक्षणिक-व्यंजक शब्दों, प्रतीकों और बिम्बों के माध्यम से अपनी बात इस तरह कहते हैं कि पाठक की हृदयतन्त्री झनझना उठती है। मंचों पर वे छाये रहते हैं।

दैनिक 'नई दुनिया' में हर सप्ताह 'स्वान्तः दुःखाय' स्तम्भ के अंतर्गत उनकी व्यंग्यात्मक कविता प्रकाशित होती है। उनके दो काव्यसंग्रह निकल चुके हैं : 'लौटती है नदी' और 'काव्यमित्र'। काव्यपाठ हेतु उन्हें विदेशों में कई बार आमंत्रित किया गया है। अभी जुलाई 2001 में शिकागो में 'जैना' संगठन ने उनके काव्यपाठ का आयोजन किया था। उसके लिये उन्होंने जैनानुशासन की भावभूमि पर कुछ कविताएँ रची थीं, जिनका संग्रह 'नमोऽस्तु' शीर्षक से प्रकाशित हुआ है। मैंने आग्रह करके उसमें की कविताएँ 'जिनभाषित' में क्रमशः प्रकाशित करने की अनुमति ले ली है। एतदर्थ में उनका आभारी हूँ।

प्रदर्शनी का गुलाब

प्रो. (डॉ.) सरोज कुमार

श्वेत, लाल, पीले, नीलाभ
गुलाब ही गुलाब ही गुलाब!
धुंधराली, दल पर दल पंखुरियाँ!
काँटों की सीढ़ियाँ, हरी-हरी पत्तियाँ!
एक-एक पौधे से एक-एक डाली
कटी-छँटी सज-धज नखराली!
रंगों की रति का मनचीता त्योहार
नयनाभिराम मोहक अलौकी संभार!

मैंने प्रदर्शनी के गुलाबों से पूछा-
कैसा लग रहा है?
कोई टिप्पणी?
बोले- यहाँ क्या निहारते हो
बंद-बंद हॉल में, पंडाल में?
वहाँ आओ, जहाँ हम चहकते हैं
महकते हैं, क्यारियों के थाल में!
पर आप वहाँ क्यों आएँगे

हमको ही टहनियों में काट-छाँट लाएँगे,
सुन्दर होने की सजा देंगे,
फिर सजाएँगे।

अब हम हैं भी क्या?
आपके सौन्दर्यबोध की सेवा में
आपके अवलोकनार्थ
अपने ताजा शव हैं!
आप हमें निहारकर अपने घर जाएँगे
पर हम तो अब
अपने घर नहीं लौट पाएँगे!
अपनी जड़ों से कटने के बाद
कोई कहीं का नहीं रहता!
देखना दिखाना कुछ घंटों का
फिर आप ही हमें
घूरे पर पटक आएँगे!

'मनोरम' 37 पत्रकार कालोनी,
इंदौर-452001 म.प्र.

आचार्य श्री विद्यासागर के सुभाषित

- सरोवर के बीच बैठा हुआ व्यक्ति जिस तरह दावानल से घिरे रहने पर भी उसकी दाह से बच जाता है ठीक उसी तरह भगवान् के मंदिर में पहुँचने पर भक्त पुरुष बाहरी विषय-कषायों के दावानल से भली-भाँति बच जाता है।
- इधर-उधर की पंचायत में मत रमो किन्तु पंच परमेष्ठी की भक्ति में लीन हो जाओ, वह भक्ति तुम्हारी मुक्ति का कारण बनेगी।
- स्तुति करने का प्रयोजन मात्र रागात्मक क्षणों की प्राप्ति नहीं है बल्कि चित्त में शांति-वैराग्य और संयम में वृद्धि भी होनी चाहिए।
- भक्ति या गुणानुवाद आन्तरिक भावों के साथ होना चाहिए, वह मात्र दिखावा या प्रदर्शन नहीं हो।
- हे रसना! तुने आज तक राग भरे गीत-संगीत में ही रस लिया है अब उसमें रस ना ले। अध्यात्मभरी भक्ति वीतराग विज्ञान में रस ले।
- भक्ति, मुक्ति के लिये कारण है और भुक्ति संसार के लिये।
- पहले दासोऽहं फिर उदासोऽहं बाद में सोऽहं और अन्त में अहं, भक्त से भगवान् बनने का क्रम यही है।
- भक्ति कभी भी हेय बुद्धि से नहीं होती बल्कि उसे तो उपादेय बुद्धि से गद्गद् होकर करनी चाहिए।
- भक्ति तो ठीक है किन्तु अन्धभक्ति ठीक नहीं। बंधुओ! भक्ति को विवेक की डोर से बाँधे रखना।
- सच्चे दिगम्बर गुरुओं की हमें मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करनी चाहिए, साथ ही इस जिह्वा को यह शिक्षा देनी चाहिए कि हे! रसना जब तक तुझमें शक्ति है तब तक गुरु की महिमा गाती रह, तेरे लिये ये सौभाग्य के क्षण हैं।
- पंच परमेष्ठी की भक्ति एवं ध्यान से विशुद्धि बढ़ेगी, संक्लेश घटेगा, वात्सल्य बढ़ेगा।

‘सागर बूँद समाय’ से उद्धृत

आर.के. मार्बल्स लि. किशनगढ़ (राजस्थान) के सौजन्य से